THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186288

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H338.63 G97 G Accession No. G.H.2863

Author गुप्त, श्री भालचंद्र

Title ग्रामोद्योग 1961

This book should be returned on or before the date last marked below.

सत्साहित्य-प्रकाशन

ग्रामोद्योग

—भारत के ग्रामोद्योगों का महत्व और विकास—

शोभालाल गुप्त

●

पुस्तक भेंट के निमित्त है

१९६१

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

यूनेस्को के सहयोग से

दूसरी बार : १९६१
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
युगान्तर प्रेस
दिल्ली।

प्रकाशकीय

हमारे देश की आबादी का बहुत बड़ा भाग गांवों में रहता है और खेती-बारी करके अपनी गुजर-बसर करता है। ग्राम-वासियों की कोशिश रहती है कि उनकी रोजमर्रा की जरूरत की चीजें गांवों में ही तैयार हो जायं और शहरों से केवल उन्हीं चीजों को लें, जो गांवों में नहीं जुटाई जा सकतीं।

जिस प्रकार खेती हमारे देश का मुख्य धंधा है, उसी प्रकार ग्रामोद्योगों का भी बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। छोटे-बड़े बीसियों उद्योग-धंधे प्राचीन काल से हमारे गांवों और नगरों में चलते आये हैं और चल रहे हैं। बड़े-बड़े कारखानों की भांति उनके लिए अधिक पूंजी की जरूरत नहीं होती, लोगों को काम मिल जाता है और उनकी मदद से ऐसे समाज का निर्माण होता है, जिसकी बुनियाद में किसीका भी शोषण न होकर पारस्परिक सद्भाव और सहयोग की वृत्ति रहती है। हमारे राष्ट्र के आर्थिक संगठन में ग्रामोद्योगों की आवश्यकता और उपयोगिता के बारे में दो मत नहीं हो सकते।

इस पुस्तक में मौजूदा समय के प्रमुख उद्योगों के विकास का हाल दिया गया है। उसे पढ़कर मालूम होता है कि किस उद्योग की आज क्या अवस्था है और उससे देश को कितना लाभ मिल रहा है। यह भी पता चलता है कि उद्योगों को विकास का पूरा मौका मिले तो उनके द्वारा देश की समृद्धि कितनी बढ़ सकती है।

हमें आशा है कि इस पुस्तक से पाठक अधिक-से-अधिक लाभ उठायेंगे।

—मंत्री

बढ़ाने की ओर जा रहा है। उसके लिए अनेक योजनाएं बनी हैं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न भी हो रहे हैं। सच बात यह है कि हमारे यहां प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है। नदियों को बांधकर और नहरें निकालकर भूमि को सींचा जा सकता है और वैसा किया भी जा रहा है। अनाज, गन्ना, कपास, तिलहन, पटसन आदि विविध पदार्थ हमारे यहां पैदा होते हैं। उनका उत्पादन बढ़े, इसके लिए अनेक योजनाएं चालू हैं। हमारी भूमि के गर्भ में तरह-तरह के खनिज पदार्थ भरे पड़े हैं। कोयला, मेंगनीज, अभ्रक, तेल आदि अनेक चीजें यहां निकाली जाती हैं। उनका पूरा उपयोग करने की चेष्टा हो रही है। इस सबसे देश को लाभ होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि हमारे देश के काम करने योग्य हर व्यक्ति को काम मिले। विज्ञान ने जो साधन खड़े किये हैं, उनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। देश में बड़े उद्योग भी चलेंगे। लेकिन हमको ऐसी योजना बनानी होगी, जिसमें कोई भी आदमी बेकार न रहे।

हमारे देश में पुराने जमाने में ऐसे ग्राम और कुटीर-उद्योग चलते थे, जो लाखों आदमियों को रोजगार देते थे। उनकी यह ताकत आज भी बनी हुई है। बड़े उद्योगों की होड़ के कारण छोटे उद्योग-धंधों की अवनति हुई है। हमको उन्हें फिर से जिलाना और बढ़ाना होगा। उनकी रक्षा करनी होगी। उनसे देश की बेकारी की समस्या को हल करने में बड़ी मदद मिल सकती है। हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है—"हम अपने बड़े उद्योगों को चाहे जितना बढ़ावा दें, पर यह जरूरी है कि हम छोटे पैमाने के और कुटीर-उद्योगों की उन्नति पर भी खास ज़ोर

द। कांग्रेस ने हमेशा छोटे उद्योगों को बढ़ावा दिया है। आज उनकी तरक्की की जरूरत पहले से भी कहीं ज्यादा अहमियत रखती है,

ग्रामोद्योगों की एक झांकी

क्योंकि और किसी भी तरह से हम बेरोजगारी दूर नहीं कर सकते।"

बड़े उद्योगों का अपना महत्व है, पर उनके लिए बड़ी पूंजी की जरूरत होती है। लाखों-करोड़ों रुपया चाहिए। उनमें हजारों मजदूर एक जगह इकट्ठे होकर काम करते हैं। काम करने के लिए

गांवों के लोगों को शहरों में जाना पड़ता है। ग्राम-परिवार खंड-खंड हो जाते हैं। लेकिन ग्राम और कुटीर-उद्योगों में ऐसा नहीं होता। गांव का कारीगर गांव में ही अपना धंधा चला सकता है। अपने बाल-बच्चों के साथ रह सकता है। वह किसीका मुंहदेखा नहीं होता। अपनी मर्जी के अनुसार काम कर सकता है। उसे अधिक पूंजी की भी जरूरत नहीं होती और न उसके औजार ही पेचीदा होते हैं। उन औजारों को आसानी से काम में लाया जा सकता है।

खेती हमारे देश का मुख्य धंधा है। किंतु खेती में बहुत लोग नहीं खप सकते हैं। खेती की जमीन थोड़ी है और उसपर निर्भर लोगों की संख्या अधिक है। कहीं-कहीं एक फसल होती है, कहीं-कहीं दो। दूसरे, खेती में किसान को कुछ ही महीने काम रहता है। चार महीने से लगाकर आठ महीने तक वह बेकार रहता है। उसे सहायक धंधे की जरूरत है, जिसे वह खेती के साथ-साथ कर सके। फिर हमारे देश की आबादी बड़ी तेजी से बढ़ रही है। साल में पचास लाख बच्चे पैदा हो जाते हैं। बेरोजगारी की इस समस्या को सुलझाने में ग्राम और कुटीर-उद्योग हमारी बड़ी मदद कर सकते हैं।

देश अब स्वतंत्र हो गया है। अपनी अर्थ-नीति आप तय कर सकता है। भारत-सरकार का ध्यान गांवों की उन्नति की ओर गया है। गांवों के खुशहाल होने पर ही देश वास्तव में खुशहाल हो सकता है। गांवों के जीवन में ग्राम और कुटीर-उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और भविष्य में भी रहेगा। इसीलिए देश के विकास की पांचसाला योजनाओं में ग्रामोद्योगों को उचित स्थान दिया जा रहा है। प्रथम आयोजना के

चार वर्षों में ग्राम, कुटीर और छोटे उद्योगों पर पंद्रह करोड़ रुपया खर्च किया गया और पांचवें वर्ष के बजट में पंद्रह करोड़ रुपये के खर्च की व्यवस्था की गई थी। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में उनके लिए दोसौ करोड़ रुपया रखा गया है। उनमें खादी, हाथकरघा, रेशम, तेलघानी, धान (चावल) कुटाई, गुड़ और खांडसारी, चमड़ा, कागज, दियासलाई, साबुन, नारियल की दाढ़ी और विभिन्न दस्तकारियों का हम यहां उल्लेख करेंगे, जिनकी मदद से लाखों आदमियों की रोटी और रोजी का सवाल हल हो सकता है।

: २ :

कपड़ा-उद्योग

हम पहले बता चुके हैं कि पुराने जमाने में हमारे देश में उद्योग-धन्धों और कला-कौशल का खूब विकास हुआ था। तरह-तरह का माल तैयार होता था और समुद्र तथा खुश्की के रास्ते दुनिया के दूसरे देशों को जाता था। प्राचीन भारत के लोग अच्छे जहाज बनाते थे और उनके द्वारा दूसरे देशों के साथ व्यापार होता था। बदले में विदेशों से सोना-चांदी आदि कीमती पदार्थ भारी मात्रा में मिलते थे। भारत में विदेशी व्यापार के कारण अनेक बंदरगाहों का निर्माण हुआ और व्यापारिक मंडियां कायम हुईं, जो बड़े-बड़े नगरों में बदल गईं। भारत का व्यापार रोम, यूनान, मिस्र, सीरिया, बेबोलोन, ईरान, चीन, जापान, स्याम, हिंदचीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि सभी देशों के साथ होता था। अफ्रीका, यूरोप और एशिया तीनों महाद्वीपों के देशों में भारत के माल की मांग और खपत थी। भारत के व्यापारी, किसान और कारीगर सभी खुशहाल थे। उसके वैभव और खुशहाली की बातें दूर-दूर तक फैल गई थीं और दुनिया के लोग इसे सुनहरा देश समझते थे। दूसरे देशों के जो यात्री भारत में आये, वे उसके वैभव को देखकर मुग्ध हो गये और उनको दांतों तले उंगली दबानी पड़ी। उन्होंने जो वर्णन लिखे हैं, वे भारत के पुराने वैभव की गवाही देते हैं।

भारत का कपड़ा-उद्योग खास तौर पर बहुत ही विकसित

था। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद से पता चलता है कि बहुत पुराने ज़माने में भी भारतीय कपड़ा बुनने की कला जानते थे। सूती और रेशमी दोनों प्रकार का कपड़ा यहां बुना जाता था। खास-खास किस्म के कपड़े खास-खास स्थानों में बनते थे और उनके लिए वे स्थान प्रसिद्ध हो गये। दक्षिण भारत में सूती कपड़ों की छपाई बहुत बढ़िया होती थी। मछलीपट्टम की छींट प्रसिद्ध थी। कालीकट में बहुत महीन कपड़ा बनता था। ढाका की मलमल तो जगत-विख्यात थी। मध्यप्रदेश का बुरहानपुर स्थान जरतारी के कपड़े के लिए प्रसिद्ध था। भारत से विदेशों को जो कपड़ा भेजा जाता था, उसकी करीब दोसौ किस्में थीं। भारतीय कपड़े का बढ़ियापन उसके नामों से ही प्रकट हो जाता है। एक मलमल को कहते थे 'आबे रवां' यानी बहता हुआ पानी, तो दूसरी थी 'वफ्ते हवा' यानी बुनी हवा और तीसरी थी 'शबनम' यानी ओस। विदेशी यात्री मार्को पोलो ने भारतीय कपड़े की तुलना मकड़ी के जाले से की है। मलमल का पूरा थान अंगूठी के भीतर से निकल सकता था और वह हौदे समेत हाथी को ढक सकता था। राजघराने की स्त्रियां जब ऐसे बारीक कपड़े पहनती थीं, तो उनके अंग दिखाई देते थे। एक बार बादशाह औरंगजेब ने अपनी लड़की को ऐसा कपड़ा पहने देखा, तो उसे बड़ा क्रोध आया। किंतु उसे बताया गया कि पुत्री ने कपड़े को अनेक तह करके पहना है। भारत ने १७वीं सदी में चौबीस लाख पौंड यानी तीन करोड़ साठ लाख मूल्य का छः करोड़ वर्ग गज सूती कपड़ा विदेशों को भेजा था। इस तरह ईसा के दो हजार वर्ष पहले से लगाकर ईसा के बाद १६वीं-१८वीं सदी तक भारत का कपड़ा-उद्योग फूलता-फलता रहा। राजा और बादशाह बदलते रहे, लड़ाइयां

भी हुईं, किंतु कारीगरों के कला-कौशल और उद्योग-धंधों पर राजनीतिक उलट-फेर का खास असर नहीं हुआ। उस समय तक भाप और बिजली से चलनेवाली कपड़ा बुनने की मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था। भारत का कपड़ा-उद्योग सीधे-सादे औजारों की मदद से कुटीर-उद्योग के रूप में चलता था और उसका तैयार माल देश और विदेश में खपता था।

मनुष्य-जीवन की दो मुख्य जरूरतें हैं—भोजन और कपड़ा। इन दोनों जरूरतों के बारे में देश स्वावलंबी था। खेतों में अनाज पैदा होता था और लोगों को कपड़ा बनाने की कला आती थी। किसान खेत में अनाज के अलावा कपास भी उगाता था और देश में रूई से सूत कातने का आम रिवाज था। घर-घर और गांव-गांव चरखे चलते थे। खेती और घर के दूसरे कामों से फुरसत मिलती तो मर्द और औरतें चरखा कातते थे। स्त्रियां विशेष रूप से चरखा कातती थीं। गांवों और कसबों में कपड़ा बुननेवाले बुनकर होते थे, उनको सूत देकर लोग अपनी जरूरत के हिसाब से कपड़ा बुनवा लेते थे। इस तरह सारे देश के कपड़े की जरूरत देश में ही पूरी हो जाती थी और लोगों को कपड़े के लिए बहुत थोड़ा खर्च करना पड़ता था। गांवों में पैसे की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, बुनकर, चर्मकार आदि को किसान अपने खेत की उपज में से अनाज दे देता था और इस तरह एक-दूसरे के सहयोग से किसानों और कारीगरों दोनों का काम चल जाता था। भारत के गांव स्वयं-पूर्ण, आत्म-निर्भर, सुखी और संतुष्ट थे।

किंतु सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति हुई। बड़ी-बड़ी मशीनें चलने लगीं और उनपर सस्ता माल तैयार

होने लगा। उसके लिए दुनिया में बाजारों की खोज शुरू हुई। भारत में अंग्रेज़ों का आगमन हुआ और व्यापार करते-करते वे यहां के राजा बन बैठे। उन्होंने देश का व्यापार अपने हाथ में ले लिया। अपने देश के माल की खपत करने के लिए उन्होंने यहां के उद्योग-धंधों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये। अतः यहां के कपड़ा-उद्योग की अवनति शुरू हो गई। कताई का रिवाज कम होता गया और बुनकरों को बेकारी का सामना करना पड़ा। देश में हर साल करोड़ों रुपये का कपड़ा विदेशों से आने और खपने लगा। जो देश दूसरे देशों को कपड़ा भेजता था, वही अब अपनी जरूरत के लिए भी विदेशों का मोहताज हो गया। इस देश से रूई दूसरे देशों को जाती थी और वे कपड़ा बनाकर यहां भेजते थे। भारत केवल कच्चा माल पैदा करनेवाला रह गया और दूसरे देश के तैयार माल का ग्राहक बन गया। इससे देश में गरीबी और बेकारी बढ़ती चली गई। उसके पुराने वैभव और खुशहाली का लोप हो गया। भारतीय उद्योग-धंधों और कला-कौशल के नाश की यह एक दर्दनाक कहानी है। आगे चलकर तो देश के भीतर भी कपड़ा-मिलों की स्थापना हुई। लोगों ने विदेशी कपड़े के मुकाबले इन मिलों के कपड़े को स्वदेशी की भावना से प्रेरित होकर अपनाया, किंतु कपड़े का कुटीर-उद्योग तो नष्ट ही होता चला गया।

सबसे पहले महात्मा गांधी ने यह अनुभव किया कि भारत की गरीबी और बेकारी का रामबाण इलाज कुटीर-उद्योगों से ही हो सकता है। किंतु शुरू में उनको चरखे और करघे का भेद मालूम न था। जब वह दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो उन्होंने अहमदाबाद के निकट सत्याग्रह-आश्रम कायम किया। वहां

कपड़ा बुनने के कुछ हाथकरघे लगाये गए, किंतु उनपर सूत मिल में कता हुआ ही बुना जाता था। साथ ही देश में ऐसी मिलें खड़ी हो रही थीं, जो सूत कातने और कपड़ा बुनने के दोनों काम करती थीं। हाथकरघे पर कपड़ा बुननेवालों को मिलों का सूत पाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। गांधीजी ने सोचा कि अगर मिलों से सूत मिलना बंद हो गया तो बुनकर बेरोजगार हो जायंगे। उन्होंने देश में चरखे की खोज शुरू कराई। एक समाज-सेविका ने गुजरात के बीजापुर नामक स्थान में मुस्लिम घरों में चरखे के दर्शन किये। फिर तो गांधीजी के नेतृत्व में देश में चरखे को फिर से जिलाने का आंदोलन शुरू हो गया। जो चरखे लोगों ने उठाकर ताक में रख दिये थे, वे फिर से चलने लगे। कांग्रेस ने खादी के नाम को देश को आजाद करने के अपने कार्यक्रम में स्थान दिया। खादी की व्याख्या की गई कि चरखे पर हाथ से कते सूत और उससे हाथकरघे पर बुने कपड़े को खादी कहा जायगा। कांग्रेसजनों ने यही खादी पहनने की प्रतिज्ञा ली और नेहरूजी ने कहा कि खादी की पोशाक आजादी की वर्दी है। खादी का प्रचार देश में बढ़ने लगा और उससे लाखों आदमियों को काम मिल गया। कांग्रेस ने खादी के काम को आगे बढ़ाने के लिए 'चरखा-संघ' नाम की संस्था कायम की और अब यह काम सरकार द्वारा मान्य अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग आयोग कर रहा है। खादी के काम में पिछले ३५-४० वर्षों में ही असाधारण उन्नति हुई है। आज खादी का कुटीर-उद्योग तरह-तरह का सादा और रंगीन, बारीक-से-बारीक और आकर्षक नमूनों का कपड़ा तैयार करता है।

चरखे और खादी ने देश में नई जागृति पैदा कर दी। उसने

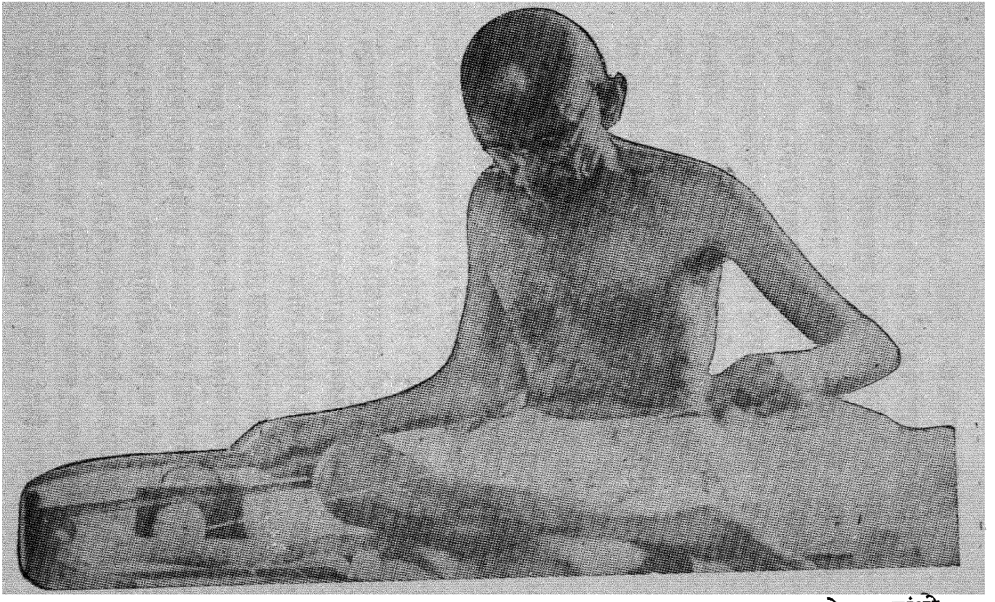

"चर्खा वह मध्यवर्ती सूर्य है, जिसके गिर्द अन्य सब तारागण घूमते हैं।" —मो. क. गांधी

स्वराज्य और स्वतंत्रता का संदेश घर-घर फैलाया। लोगों के जीवन और विचारों में क्रांति ला दी। उनके रहन-सहन का ढंग बदल गया। जो लोग किसी समय आराम की जिंदगी बिताते थे, वे बिल्कुल सादगी के साथ रहने लगे। उनका हाथ से काम करने का संकोच दूर हो गया। उनमें देश के करोड़ों नंगे-भूखों के प्रति प्रेम और आत्मीयता का भाव पैदा हुआ, जिसे उन्होंने चरखे और खादी को अपनाकर प्रकट किया। चरखे का अर्थशास्त्र नैतिकता पर आधार रखता है। आपसी होड़ और कमजोर के विनाश का सिद्धांत उसे स्वीकार नहीं। उसने कातने और बुननेवालों की बेबसी को दूर किया और उनमें आत्म-विश्वास पैदा किया। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें जिंदगी की लड़ाई लड़ने का एक मजबूत सहारा मिल गया है। चरखे ने छुआछूत की भावना को दूर किया, जिसकी वजह से लाखों व्यक्ति समाज से बहिष्कृत होकर रहते थे और तरह-तरह की कठिनाइयां भुगतते थे। बुनकरों की गिनती अछूतों में होती थी। चरखे और खादी ने उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारा और उनमें शिक्षा और संस्कारों का प्रचार किया है। स्त्रियों का कातने का परंपरागत धंधा फिर से जीवित हो गया। वे परिवार की आय को बढ़ाने लगी। चरखा और खादी ने पर्दा-प्रथा और अन्य सामाजिक कुरीतियों पर भी प्रहार किया। लोगों को शराब आदि नशीली वस्तुओं से दूर रहने और पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा दी। राष्ट्र के चरित्र को ऊंचा उठाने में चरखे और खादी ने जो योग दिया, उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। देश के लिए त्याग करने और मानवी भाईचारे की भावना का विकास करके उसने स्वराज्य की नींव को सींचा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों को माननेवालों में

एकता स्थापित की। चरखे और खादी का आर्थिक पहलू तो मजबूत है ही, क्योंकि वह लाखों व्यक्तियों को मुख्य और सहायक धंधा देता है, जो किसी और जरिए से नहीं मिल सकता, किंतु उसकी नैतिक भूमिका भी बहुत मजबूत है। वह सादा जीवन और उच्च विचार की कल्पना को संभव बनाता है।

हमारे देश के लिए खादी और ग्राम-उद्योगों की आर्थिक उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। भारत में शहरों की संख्या सिर्फ तिहत्तर है और कसबे पांच हज़ार से अधिक नहीं हैं। शहरों और कसबों की कुल आबादी छः करोड़ है। कल-कारखाने और बड़े उद्योग ज्यादातर शहरों और कसबों में ही चलते हैं। गांवों के लोग काम की तलाश में शहरों और कसबों में आते हैं, किंतु कल-कारखाने और बड़े उद्योगों में कितने आदमियों को काम मिल सकता है? शहरों और कसबों में भी बेकारी बढ़ रही है। शहरों और कसबों के मुकाबले गांवों की संख्या साढ़े पांच लाख है और उनमें उनतीस करोड़ आदमी रहते हैं। गांवों में खेती लोगों का मुख्य धंधा है। खेती की जमीन तो बढ़ नहीं रही है और जनसंख्या बढ़ रही है। इसलिए थोड़ी ज़मीन पर पहले से ज्यादा आदमी निर्भर रहने लगे हैं और उन सबको पूरा काम नहीं मिलता। कुल जनसंख्या के हिसाब से पिछले पचास वर्षों में काम करनेवालों का औसत घटता जा रहा है। सन् १९०१ में वह ५० प्रतिशत था, किंतु सन् १९५१ में वह ३९·९ प्रतिशत ही रह गया है। इसके मुकाबले काम करनेवाले लोगों पर निर्भर रहनेवाले लोगों का औसत बढ़ रहा है। वह सन् १९०१ में ४९ प्रतिशत से बढ़कर सन् १९५१ में ६० प्रतिशत हो गया है। दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ हुआ कि बेकारों की संख्या बढ़ रही है। सन् १९५१ में देहाती क्षेत्र में

कमानेवालों की संख्या दस करोड़ थी और शहरी क्षेत्र में खेती के अलावा अन्य कामों में लगे हुए लोगों की संख्या चार करोड़ थी। इसके मुकाबले शहरी और देहाती क्षेत्र में ऐसे लोगों की संख्या नौ करोड़ तिरसठ लाख है, जो साल में ३०० दिन बेकार रहते हैं और साल में ९० दिन बेकार रहनेवालों की संख्या दस करोड़ इक्कीस लाख है।

इन बेकारों और अर्द्ध-बेकारों को काम देने का सवाल है। कल-कारखानों और बड़े उद्योगों में उन सबको काम नहीं दिया जा सकता। गांवों में कल-कारखाने हैं भी नहीं और गांवों को उजाड़कर उनकी आबादी को शहरों में नहीं बसाया जा सकता। उनको तो गांवों में उनके घरों में ही काम देना होगा, जिसे वे खेती के साथ-साथ या स्वतंत्र रूप से कर सकें। यह काम खादी और ग्रामोद्योगों के जरिए दिया जा सकता। जब आलोचकों ने चरखे के लिए यह कहा कि उससे तो दिनभर मेहनत करने के बाद मुश्किल से दो-चार आना रोज से ज्यादा नहीं कमाया जा सकता तो गांधीजी ने उनको जवाब दिया कि चरखे को मैं छोड़ सकता हूं, किंतु दूसरा कोई ऐसा साधन तो बताओ, जिससे सब लोगों को इतनी या इससे ज्यादा आमदनी हो सके। किन्तु चरखे का कोई विकल्प पेश नहीं किया जा सका। चरखे को जिस तरह पिछले चालीस सालों में लोगों ने अपनाया, उससे प्रकट है कि वे उसकी कीमत को पहचान गये हैं। परिवार की आय में थोड़ी भी बढ़ोत्तरी उनके लिए मददगार होती है।

हाथकताई-उद्योग की विशेषताएं अनेक हैं। जिन लोगों को फुरसत है और थोड़े-से भी पैसों की जरूरत है, उनको वह आसानी

से काम दे सकता है। कातने की कला आसानी से सीखी जा सकती है और लाखों स्त्री-पुरुष, बालक और बूढ़े उसे सीख चुके हैं।

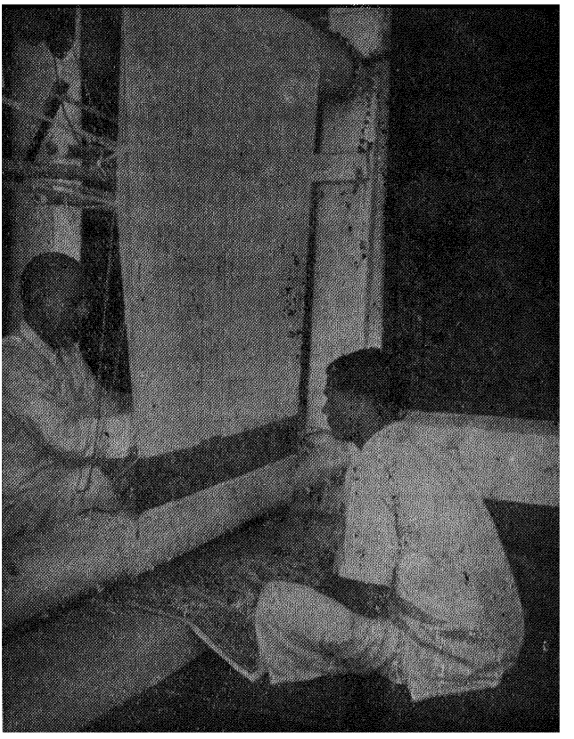

कपड़े की बुनाई

इसमें कोई बड़ी पूंजी लगाने की जरूरत नहीं होती। चरखा बहुत ही सस्ती कीमत में तैयार हो जाता है। कातनेवाले का काम

दस-पंद्रह रुपये में चल जाता है। अकाल आदि दैवी संकटों के समय चरखे के द्वारा पीड़ितों को तुरंत सहायता पहुंचाई जा सकती है। उसके द्वारा करोड़ों रुपया जरूरतमंद गरीबों में बंटता है। उससे लोगों को मिल-जुलकर काम करने की शिक्षा मिलती है। सन १९५७-५८ में इस उद्योग ने आठ लाख पचास हजार कातनेवालों, एक लाख चौवालीस हजार बुनकरों और दस लाख तैंतालीस हजार अन्य कारीगरों—बढ़ई, लुहार, रंगरेज, धोबी आदि को काम दिया। इसके मुकाबले कपड़े की मिलों में केवल आठ-सात लाख श्रमिक काम पा रहे हैं। देश की जरूरत का दो-तिहाई कपड़ा मिलों में तैयार होता है। कुछ और मिलें खोलकर देश की कपड़े की बाकी जरूरत भी पूरी की जा सकती है। उनमें दो-तीन लाख मजदूरों को और काम दिया जा सकता है। किंतु हमारे सामने तो सवाल करोड़ों बेकारों और अर्द्ध-बेकारों को काम देने का है और यह सवाल इस तरह हल नहीं हो सकता। उसके लिए तो हमें खादी और ग्राम-उद्योगों को ही अपनाना होगा।

चरखे और खादी-उद्योग की एक और विशेषता ध्यान देने लायक है। कपड़ा-मिल की आमदनी में से एक रुपये में से चार आना मजदूरी और वेतन में जाता है। इसके मुकाबले खादी-उद्योग में रुपये में से दस आने श्रमिक की जेब में जाता है। ऊपर का प्रबंध-खर्च रुपये में तीन आने से अधिक नहीं पड़ता। अतः इस उद्योग में बीच के वर्ग के शोषण की कोई गुंजाइश नहीं है।

खादी-उद्योग शुरू में इस तरह चला कि देहातों में खादी तैयार होती थी और उसे शहरों और कसबों में बेचा जाता था। इस तरह कातनेवालों, बुनकरों और दूसरों को मजदूरी के रूप में लाभ मिल जाता था। किंतु बाद में गांधीजी ने इस बात पर

जोर दिया कि लोग केवल मजदूरी के खयाल से यह काम न करें—उनको कपड़े की अपनी जरूरत खुद ही पूरी करनी चाहिए। उन्होंने कहा, "समझ-बूझकर कातो। जो कातो सो पहनो और जो पहने सो कातो।" इस तरह उन्होंने कपड़े के मामले में स्वावलंबन का आदर्श पेश किया। खादी को उन्होंने व्यापारिक चीज नहीं रहने दिया। वह खादी के द्वारा गांवों की अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाना चाहते थे। अगर गांव खुराक और कपड़े में स्वावलंबी हो जायं तो फिर और बाकी क्या रह जाता है! जीवन की मुख्य लड़ाई जीत ली जाती है। गांधीजी ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में खादी-उद्योग के सामने एक क्रांतिकारी विचार रखा। उन्होंने कहा कि कातनेवाले को जीवन-निर्वाह लायक मजदूरी दी जाय। चरखा-संघ ने इसपर अमल भी किया और श्रमिकों को बाजार की दर से ऊंची मजदूरी दी गई। इस तरह अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नैतिक मूल्य की स्थापना की गई।

जबसे चरखे की नये सिरे से खोज हुई, तबसे खादी तैयार करने के औजारों में निरंतर सुधार होता गया है। अबतक अनेक किस्म के चरखे तैयार हो चुके हैं। ग्राम-चरखा तो पहले से प्रचलित था ही। उसके बाद सावली-चरखा, बारडोली-चरखा, बांस-चरखा, किसान-चक्र, यरवदा-चक्र आदि अनेक प्रकार के चरखे बने हैं। इन चरखों पर कातने का एक ही तकुआ होता है। पहले मोटा सूत कतता था। अब बारीक-से-बारीक सूत कतने लगा है। सूत कातने की रफ्तार भी बढ़ी है। गांधीजी के भतीजे श्री मगनलाल गांधी ने एक ऐसा चरखा बनाया, जिसका चक्र पांव से घुमाया जाता है और जिसमें दो तकुए लगे हैं। उसमें दोनों हाथों से एक साथ सूत काता जाता है। यह 'मगन-चरखा' कहलाता

है। 'यरवदा-चक्र' पेटीनुमा चरखा है। उसका आकार बहुत छोटा है और वजन भी इतना कम है कि उसे उठाकर आसानी से अपने साथ कहीं भी ले जाया जा सकता है। इसके अलावा तकली पर भी सूत काता जा सकता है। तकली बांस की भी बनती है और लोहे की भी और उसे आसानी से अपने पास रखा और चाहे जहां ले जाया जा सकता है। तकली पर बच्चे बड़े शौक से सूत कात सकते हैं और स्कूलों में उसका व्यापक रूप में प्रयोग हो सकता है। कपास से बिनौले निकालने, रूई को धुनकने और उसकी पूणियां बनाने आदि के औजारों और क्रिया में भी पहले से बड़ा सुधार हुआ है।

अब एक नये चरखे का आविष्कार हुआ है, जिसे 'अंबर चरखा' कहा जाता है। इस चरखे के मूल आविष्कारक श्री एकंबर-नाथ हैं। यह मद्रास राज्य के रहनेवाले हैं और स्वयं एक किसान के पुत्र हैं। गांधीजी चाहते थे कि कोई ऐसा चरखा तैयार किया जाय, जो परंपरा से चलनेवाले चरखे से ज्यादा और अच्छा सूत कात सके और कतवारी को पूरा रोजगार दे सके। उनका खयाल था कि ऐसे चरखे की कीमत १००-१५० रुपये तक हो सकती है, किन्तु वह पेचीदा नहीं होना चाहिए, उसका निर्माण देहात में भी संभव होना चाहिए और हरकोई उसे प्रत्येक घर में आसानी से चला सके। ऐसे चरखे के लिए चरखा-संघ ने एक लाख रुपये का इनाम भी घोषित किया था। शुरू में अंबर चरखा दो तकुओं का बना था। चरखा-संघ ने उसे पसंद किया, उसके आविष्कारक को इनाम दिया और उसमें और सुधार करने के लिए हर तरह की मदद दी। पिछले वर्षों में अंबर चरखे में अनेक सुधार हुए हैं, और खादी-ग्रामोद्योग-आयोग ने देश में उसको बड़े पैमाने पर चलाने

का काम शुरू कर दिया है। अंबर-परिश्रमालयों में उसे चलाने की शिक्षा दी जाती है। तीन महीने में आदमी यह चरखा चलाना सीख लेता है। पहले अंबर चरखे के अलग-अलग दो हिस्से थे। एक हिस्से को बेलनी कहते हैं। इसपर धुनी हुई रूई से लंबी पूणियां अथवा कच्चा सूत तैयार किया जाता है। इस कच्चे सूत से अंबर-चरखे पर पक्का सूत काता जाता है। अंबर चरखों पर चार तकुए होते हैं। सूत लपेटने की उसपर नलियां लगी होती हैं। सूत अपने-आप कतता और इन नलियों पर लिपटता चलता है। कातनेवाले को सिर्फ उसका हत्था घुमाना पड़ता है। एक अम्बर चरखा पांच तकुओंवाला भी तैयार किया गया है। अब एक संयुक्त अंबर

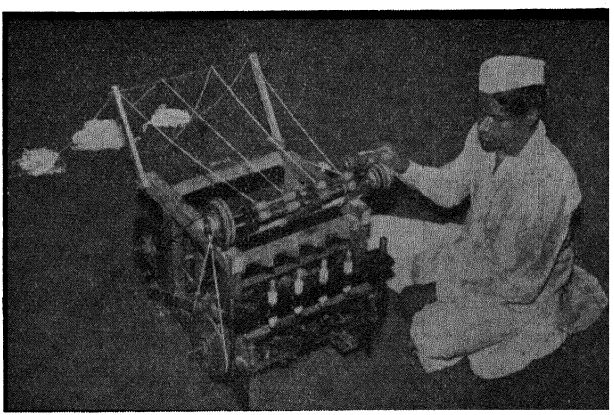

अंबर चरखा

चरखा भी बन गया है। पूणी का कच्चा सूत तैयार करने और पक्का सूत कातने की क्रिया एक ही यंत्र पर हो जाती है। एक

छोटे कद का अंबर चरखा भी बनाया गया है। उसपर दो तकुए होंगे और उसे पेटी में बंद किया जा सकेगा। पांच तकुओं का जो अंबर चरखा बना है, उसमें दो तकुओं पर कच्ची और तीन पर पक्की कताई होगी। सामान्य गति से उसपर आठ घंटे में ९-१० गुंडी सूत काता जा सकेगा और दो आना प्रति गुंडी के हिसाब से एक मजदूर रोज रुपया-सवा रुपया कमा सकेगा। खेतिहर मजदूर को इससे कम ही मजदूरी मिलती है। पहले अंबर चरखे की कीमत ९० रुपये थी और बेलनी की ३० रुपये। अब संयुक्त अंबर चरखा ६० रुपये में तैयार होने लगा है। अंबर चरखे के साथ रुई को धुनने के लिए एक धुनाई मोढ़िया का भी आविष्कार हुआ है। इस औजार की कीमत ३५ रुपये है और उसपर एक घंटे में १०-१५ तोला रुई का पोल तैयार किया जा सकता है। इसके अलावा कपास ओटने का एक अलग औजार होता है।

हमारे देश में एक किसान-कुटुंब की औसत वार्षिक आय ४४७ रुपये और एक व्यक्ति की १०४ रुपया है। किसान-कुटुंब का औसत वार्षिक खर्च ४६८ रुपये अनुमान किया गया है। आमदनी से खर्च अधिक होने पर वह कर्जदार ही हो सकता है। अंबर चरखा उसकी आय में अच्छी बढ़ोतरी कर सकता है। अगर कोई प्रति-दिन अंबर चरखे पर एक घंटा काते तो ३०० दिन में वह इतना सूत कात सकता है कि उससे ७५ गज कपड़ा तैयार हो सकता है और वह आय में ७५ रुपये की वृद्धि कर सकता है। आठ घंटे रोज कातने पर ३०० दिन में २४० रुपये कमाये जा सकते हैं। सन् १९५७-५८ में करीब दो लाख व्यक्तियों को अंबर चरखा चलाने की शिक्षा दी गई और अंबर चरखे पर करीब एक लाख नवासी

हजार व्यक्तियों को काम मिला। अंबर चरखे का प्रचार दिनोंदिन बढ़ेगा, किंतु साथ ही पुराने ढंग का चरखा भी चलता रहेगा, क्योंकि अभी हरकोई अंबर चरखे की कीमत नहीं चुका सकता। यह आशा की जा सकती है कि अंबर चरखे से कताई द्वारा श्रमिक को जीवन-निर्वाह के योग्य मजदूरी मिल सकेगी। कुछ दिन पहले हैदराबाद (दक्षिण) में अंबर चरखे का एक प्रदर्शन हुआ था। उसमें प्रधान मंत्री श्री नेहरू भी उपस्थित थे। पंद्रह सौ अंबर चरखे एक साथ चल रहे थे और उनको चलनेवालों में अधिकांश मुस्लिम औरतें थीं, जो कड़े पर्दे में रहती हैं। उनका पर्दे से बाहर आना सामाजिक क्रांति का सूचक है और उसका श्रेय अंबर चरखे को है।

चरखे और हाथकरघे का चोली-दामन का साथ है। चरखे पर सूत काता जाता है और उसी सूत से हाथकरघे पर कपड़ा बुना जाता है। दोनों के योग से ही यह कुटीर-उद्योग लाखों व्यक्तियों को रोजगार दे सकता है। पुराने जमाने में हाथ-करघे पर चरखे का ही सूत बुना जाता था, किंतु मिलों के आगमन के बाद हाथ-करघे पर कपड़ा बुननेवाले बुनकर ज्यादातर मिल का सूत काम में लाने लगे। इससे चरखा चलानेवालों का रोजगार मारा गया। अब यह कोशिश की जा रही है कि हाथकरघे चरखे का सूत अधिक-से-अधिक काम में लायें। अंबर चरखे का प्रयोग जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-वैसे अधिक सूत मिलने लगेगा। इस समय देश में हाथकरघों की संख्या करीब अट्ठाइस लाख है। इनमें से बीस लाख करघे सूती कपड़ा बुनते हैं, शेष ऊनी और रेशमी। हाथकरघों पर करीब एक करोड़ व्यक्तियों की रोजी निर्भर करती है। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में हाथकरघा-उद्योग के विकास के लिए साढ़े उनसठ

करोड़ रुपये की राशि रखी गई और उसके द्वारा एकसौ साठ करोड़ गज कपड़ा बनाने का लक्ष्य सोचा गया था। हाल के वर्षों में हाथ-करघा-उद्योग ने अच्छी प्रगति की है और दूसरी आयोजना का लक्ष्य पूरा कर लिया है। उसने सन् ५५ में एक सौ सैंतीस करोड़ गज, सन् ५६ में एकसौ अट्ठावन करोड़ गज और सन ५७ में एकसौ अड़सठ करोड़ गज कपड़ा तैयार किया। देश को जितने कपड़े की जरूरत है, उसका दो-तिहाई यानी करीब पांचसौ करोड़ गज कपड़ा मिलों में तैयार होता है और शेष एक-तिहाई हाथकरघों और मशीनी करघों पर पैदा होता है। कपड़ा-मिलों के मुकाबले हाथकरघा-उद्योग कहीं अधिक लोगों को रोजगार दे सकता है।

अंबर चरखे का सूत

सरकार हाथकरघा-उद्योग की रक्षा करने और उसका विकास करने के लिए तरह-तरह से कोशिश कर रही है। उसने इस काम के लिए 'हाथकरघा-बोर्ड' की स्थापना की है और कपड़ा-मिलों के उत्पादन पर एक कर लगा दिया है, जिससे प्रति वर्ष पांच करोड़

रुपया मिल जाता है। यह रुपया हाथकरघा-उद्योग की विकास-योजनाओं पर खर्च किया जाता है। उसके माल की बिक्री बढ़ाने के लिए कीमत में कुछ छूट भी दी जाती है और कुछ खास किस्म का कपड़ा हाथकरघों पर ही बुना जा सकता है। मिलों को वैसा कपड़ा बुनने से रोक दिया गया है। हाथकरघों पर अब तरह-तरह के नमूनों का और कारीगरी की दृष्टि से बहुत बढ़िया और सुंदर कपड़ा बनने लगा है। उसकी न केवल देश में, बल्कि विदेशों में भी मांग बढ़ती जा रही है। हाथकरघा-उद्योग के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण कदम यह उठाया गया है कि बुनकरों की सहकारी समितियां संगठित की जा रही हैं। वे सहकारी समितियां अपने सदस्यों को सूत और सुधरे हुए औजार सुलभ करती हैं, तैयार माल का संग्रह करके रखता हैं और उसकी बिक्री का प्रबंध करती हैं। मार्च १९५८ के अंत तक ऐसी सहकारी समितियों की संख्या साढ़े नौ हजार से ऊपर पहुंच गई थी और ग्यारह लाख सैंतालीस हजार बुनकर उसके सदस्य बन गये थे। ये समितियां श्रमिकों को बीच के लोगों के शोषण से बचाती हैं और उनको निरंतर काम दिलाने का प्रबंध करती हैं। इन समितियों को सरकार की ओर से अनुदान और कर्ज के रूप में विशेष सहायता मिलती है। सरकार ने सन ५३ से ३१ माच १९५८ तक हाथकरघा-उद्योग पर उन्नीस करोड़ साठ लाख रुपया खर्च किया है। इस तरह हाथकरघा-उद्योग का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ता है।

देश में अनेक किस्म के हाथकरघे प्रचलित हैं। पुराने करघों को खड्डी कहा जाता है। यह जमीन में गड्ढा खोदकर बनाई जाती है, और बुनकर गड्ढे के अंदर पांव लटकाकर कपड़ा

बुनता है। इस खड्डी में एक हत्था, सूत के धागों की बय, बांस की सींकों की कंघी, बाने की ढरकी और ताने तथा बुने हुए कपड़े को लपेटने के साधन होते हैं। बुनकर अपने हाथ से बाने की ढरकी को ताने में निकालता है। अब इन खड्डियों में भी झटका-औजार लगाया जा रहा है, जिनकी मदद से बाने की ढरकी झटका लगते ही अपने-आप ताने में से गुजर जाती है। यह झटका-करघा कहलाता है। देश में इस करघे का उपयोग बढ़ रहा है। उनमें से २ से २४ जोड़ी तक बय होती हैं। ये ताने के सूत को इच्छानुसार ऊंचा-नीचा करने का काम देती हैं। कपड़ा बुनने के लिए बुनकर को अनेक क्रियाएं करनी होती हैं। सूत को खोलना, उसे नरियों पर भरना, ताने के बेलन पर लपेटना, सूत के धागों को बय की आंखों और कंघी में से निकालना होता है। पहले हाथ से ही ताना बनाया जाता था, किंतु अब ताना तनने की एक मशीन बन गई है। सूत को मजबूत बनाने के लिए चावल के मांड आदि का कलप देना पड़ता है। दूसरा तरीका सूत को बटने का है। इस काम की भी एक मशीन तैयार हो गई है। ऐसे करघे भी काम में आ रहे हैं, जिनमें ढरकी की एक से अधिक पेटियां होती हैं। उनमें अलग-अलग रंग का सूत लिपटा होता है और जरूरत के हिसाब से चाहे जिस ढरकी को झटके की मदद से ताने में से गुजारा जा सकता है। एक ऐसा करघा भी बना है, जिसपर कातने से लगाकर कपड़ा बुनने तक की सारी क्रियाएं हो सकती हैं। तरह-तरह के डिजाइनवाला कपड़ा बुनने के लिए डावी का आविष्कार किया गया है। यह लकड़ी और लोहे दोनों की होती है। डावी का संबंध बय से जुड़ा होता है। एक लोहे की मशीन भी बनी है, जिसे जैकार्ड मशीन कहते हैं। यह हाथकरघे पर लगा दी जाती है। कपड़े का डिजाइन

पहले से एक कागज पर तैयार कर लिया जाता है और उसके अनुसार इस मशीन की मदद से चित्र-विचित्र कपड़ा बुनता जाता है। इस प्रकार हाथकरघे और उसके औजारों में पहले की अपेक्षा बहुत सुधार हो गया है और होता जा रहा है। आजकल एक बुनकर हाथकरघे पर आठ घंटे काम करने साधारणतः चार गज कपड़ा बुन लेता है, किंतु सुधरे हुए करघे के प्रयोग से उसकी उत्पादन-क्षमता ड्योढ़ी-दूनी हो जायगी। एक बुनकर २०० रुपये की पूंजी लगाकर डेढ़ रुपये से साढ़े चार रुपया तक प्रतिदिन कमा सकता है।

सूती कपड़े की तरह ऊनी कपड़ा भी तैयार किया जाता है। ऊन के कंबल, लोई, शाल-दुशाले, चादर, ट्वीड, पट्टू, आदि तरह-तरह के कपड़े बुने जाते हैं। शाल-दुशालों पर कसीदाकारी का बढ़िया काम होता है। इसके लिए कश्मीर बहुत प्रसिद्ध है। हमारे देश में भेड़ें पालने का रिवाज है। भेड़ के बालों को ही ऊन कहते हैं। साल में तीन बार भेड़ के बाल काटे जाते हैं। इस ऊन को छांटा जाता है, धोकर साफ किया जाता है और उसे रुई की तरह धुनकर तकली और चरखों पर काता और करघों पर बुना जाता है। भारत में प्रति वर्ष पांचसौ पैंसठ लाख पौंड़ ऊन पैदा होती हैं, किंतु उसका ज्यादातर हिस्सा कच्चे रूप में ही विदेशों को भेज दिया जाता है। ऊनी कपड़े की मिलें भी कायम हो चुकी हैं, किंतु ऊनी कपड़े तैयार करने का काम कुटीर-उद्योग के रूप में भी चल रहा है और सरकार उसे खादी और ग्रामोद्योग-आयोग द्वारा संरक्षण और बढ़ावा दे रही है।

कपड़े से संबंधित एक और कुटीर-उद्योग कपड़ा रंगने और उसपर छपाई करने का है। यह उद्योग हमारे देश में बड़े पुराने

जमाने से चल रहा है। इस काम को करनेवालों को रंगरेज और छीपी कहा जाता है। राजस्थान और गुजरात में रंग-बिरंगा छपा

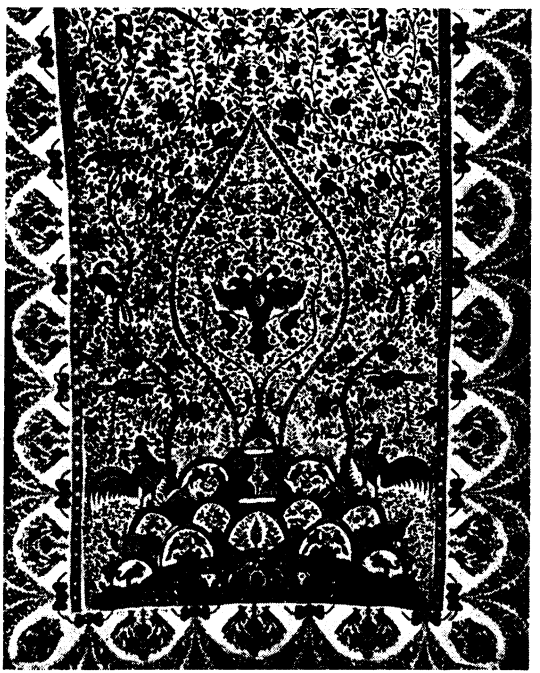

कपड़ा-छपाई का एक उत्कृष्ट नमूना

हुआ कपड़ा पहनने का विशेष रिवाज है, इसलिए यह कुटीर-उद्योग इन प्रदेशों में काफी फूला-फला। दक्षिण भारत में मछलीपट्टम और उत्तर प्रदेश में फर्रुखाबाद छपाई के काम के लिए प्रसिद्ध

है। रंगीन और छपा हुआ कपड़ा बड़ा आकर्षक लगता है। रंगाई और छपाई के काम में तरह-तरह के रंगों और उनकी मिलावट का प्रयोग किया जाता है। छपाई मुख्यतः चार प्रकार से की जाती है। पहले असली रंग ही काम में लाये जाते थे, किंतु अब तरह-तरह के कृत्रिम रंगों का आविष्कार हो चुका है। छपाई के लिए तरह-तरह के नमूनों के बेल-बूटोंवाले शीशम की लकड़ी के ठप्पे बनाये जाते हैं। रंग की गद्दियों पर इन ठप्पों को लगाकर उनमें रंग भरा जाता है और कपड़े को मेज पर फैलाकर उसपर उसकी मदद से छपाई की जाती है। कपड़े की रंगाई और छपाई में कई तरह के रासायनिक पदार्थ काम में लाये जाते हैं। ठप्पों के अलावा कलम की मदद से भी छपाई की जाती है। सूती कपड़े की तरह रेशमी कपड़े को भी रंगा और छापा जाता है। ठप्पों के सेट की कीमत दोसौ से पांचसौ रुपये तक होती है। सरकार ने पूना में एक प्रयोगशाला स्थापित की है, जो रंगाई और छपाई के विविध प्रयोग करती है और कारीगरों को शिक्षण देती है।

हमारे देश में कालीन या गलीचे बुनने और दरी एवं निवाड़ बुनने का कुटीर-उद्योग भी चल रहा है। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर और भदोही गलीचा-उद्योग के मुख्य केंद्र हैं। कश्मीर में भी काफी अच्छे गलीचे बनते हैं। गलीचों की विदेशों में बड़ी मांग है। सन् १९५०-५१ में साढ़े पांच करोड़ रुपये मूल्य के गलीचे विदेशों को भेजे गये। मुगल बादशाहों के जमाने में यह उद्योग इस देश में काफी विकसित हुआ। गलीचे बनाने में ऊन, सूत और पटसन की डोरी काम में आती है। उनको तरह-तरह के रंगों से रंगा जाता है और गलीचों पर तरह-तरह की चित्रकारी की जाती है। गलीचे काफी कीमती होते हैं। वे गुदगुदे होते हैं, फर्श पर

बिछाये जाते हैं और बैठकखानों की शोभा बढ़ाते हैं। गलीचों की ही तरह छोटे आसन भी बनाये जाते हैं। गलीचा बुनने का करघा खड़ा होता है। जेलों में कैदियों से गलीचा बुनने का काम भी लिया जाता है।

दरी और निवाड़ बुनने का कुटीर-उद्योग भी काफी पुराना है। दरियां फर्श और पलंग पर बिछाने के काम में आती हैं और निवाड़ से पलंग बुने जाते हैं। दरी बुनने का एक अड्डा होता है, जिसपर करघे की तरह बुनाई होती है। दरियों में तरह-तरह की रंगीन धारियां डाली जाती हैं। चित्रकारी भी की जाती है। अब उसका रिवाज कम हो गया है। सूत को रंगकर रंगीन दरियां तैयार की जाती हैं। दरियां हल्की और भारी दोनों किस्म की होती हैं। आगरा दरी-उद्योग का मुख्य केंद्र है। निवाड़ बुनने का अड्डा गलीचे के करघे की तरह, किंतु उससे छोटा होता है। निवाड़ भी कपड़े की तरह ही बुनी जाती है। स्त्रियां फुरसत के समय घरों में यह काम करती हैं।

: ३ :

रेशम-उद्योग

रेशम का उद्योग हमारे देश का बहुत पुराना उद्योग है। रेशम के जन्म की कहानी बड़ी दिलचस्प है। रेशम एक कीड़े के द्वारा पैदा किया जाता है। कहते हैं कि आज से करीब चार-पांच हजार वर्ष पहले चीन में इस रहस्य का पता चला। चीन ने सैकड़ों वर्षों तक इस रहस्य को छिपाये रखा, किंतु धीरे-धीरे रेशम के कीड़े एक ओर तुर्की, रोम, और यूनान पहुंचे, तो दूसरी ओर कोरिया, जापान आदि पूर्वी देशों में। इस तरह चीन को रेशम की जन्मभूमि कहा जा सकता है। रेशम का उद्योग चीन से भारत आया या स्वतंत्र रूप से यहां उसका विकास हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किंतु हमारे प्राचीन साहित्य में रेशमी कपड़ों का जिक्र मिलता है। आज तो कच्चा रेशम पैदा करनेवाले देशों में भारत चौथे नंबर पर है। यह उद्योग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में करीब पचास लाख ग्रामीणों को सहायक रोजगार दे रहा है।

रेशम की चार किस्में होती हैं। जो कीड़ा शहतूत के पत्ते खाकर रेशम बनाता है, उसे शहतूती रेशम कहते हैं। टसर, एरी और मूंगा रेशम की दूसरी किस्में हैं। शहतूती रेशम मुख्यतः मैसूर, पश्चिमी बंगाल और काश्मीर में होता है। गैर-शहतूती रेशम असम, बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में। टसर, रेशम विशेष रूप से अमरीका को निर्यात होता है और उससे विदेशी

मुद्रा प्राप्त होती है। दूसरे युद्ध के समय भारतीय रेशम की मांग बहुत बढ़ गई थी, क्योंकि वह हवाई छतरियां बनाने के काम में भी आता है। उस समय लाखों वर्ग गज रेशमी कपड़ा विदेशों को भेजा गया। कच्चे रेशम का निर्यात भी प्रति वर्ष बीस लाख पौंड तक होने लगा था।

रेशम का कीड़ा अंडे के भीतर से निकलता है। उसका जीवन-काल डेढ़ महीने का होता है। जब वह पैदा होता है तो बाल बराबर मोटा होता है। शहतूत की पत्तियां खाकर वह बड़ा होता है। जन्म के समय से वह बारह हजार गुना बड़ा हो जाता है और अपने वजन से तीस हजार गुना पत्तियों को चट कर जाता है। रेशम के कीड़े के दो ही मुख्य काम होते हैं—खाना और सोना। खाना बंद करता है तो सो जाता है। एक नींद निकालने के बाद वह अपनी झिल्ली को निकाल फेंकता है। ऐसा वह अपने जीवन में चार बार करता है। आखिरी बार झिल्ली उतारने के बाद वह रेशम कातना शुरू कर देता है और कोया बनाने लगता है। रेशम कातते-कातते वह कोये में कैद हो जाता है। तीन दिन में रेशम का कोया बनकर तैयार हो जाता है। आठ-दस दिन बाद कीड़ा कोये को चीरकर बाहर आ जाता है, किंतु उसका रूप बिल्कुल बदल जाता है। वह तितली जैसा हो जाता है। उसके बाद मादा कीट अंडे देती है। शहतूती, मूंगा और टसर के कीड़ों के कोयों में से २०० से १२०० गज तक लंबा रेशम का धागा प्राप्त होता है। एरी के कोयों में जो कच्चा रेशम होता है, उसे कातना होता है।

रेशम के कोये को गरम पानी में डाल देते हैं। कीड़े को भीतर ही मार डालते हैं। अगर कीड़ा अपने-आप कोये को फोड़कर बाहर आ जाता है तो रेशम का धागा खराब हो जाता है। रेशम के

कीड़ों को बाकायदा पालना होता है । अंडों की देख-भाल करनी होती है, कीड़ों को उनकी खुराक यानी पत्तियां देनी पड़ती हैं, कोयों को संग्रह करके रखना पड़ता है और तरीके से उनमें से धागा निकालना होता है । यह धागा इतना बारीक होता है कि कई धागों को बटकर एक धागा बनाना होता है। इसके औजार बने हुए हैं। बटे हुए धागों से ही करघे पर रेशमी कपड़ा बुना जाता है। देश में रेशमी कपड़ा बुनने के करीब एक लाख करघे चल रहे हैं। रेशम के कपड़े को तरह-तरह के रंगों से रंगा जाता है और उसपर छपाई भी की जाती है । इससे उसकी सुंदरता और बढ़ जाती है। रेशमी कपड़ों को दूकानों में सजा देखते हैं तो उसे पाने के लिए हमारा दिल ललक उठता है । सरकार ने रेशम-उद्योग का विकास करने के लिए एक केंद्रीय रेशम बोर्ड की स्थापना की है और दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में इस काम के लिए करीब चार करोड़ अड़तालीस लाख रुपया रखा है । रेशम के कीड़ों की नस्ल को सुधारने, कीड़ों को खुराक के लिए शहतूत, अरंड, कसरू आदि उगाने, कीड़ों को ठीक ढंग से पालने, रेशम का धागा निकालने और बुनने के सुधरे औजार काम में लाने और इस उद्योग में लगे हुए लोगों की सहकारी समितियां बनाने आदि विविध काम किये जा रहे हैं। मधुमक्खी की तरह रेशम का कीड़ा भी इस तरह मनुष्य का सेवक और कल्याणकर्ता बना हुआ है। वह कई लाख व्यक्तियों के लिए रोटी कमाने का साधन जुटाता है और लोगों को मनहर कपड़ा पहनने के लिए देता है। खुद अपनेको मिटाकर दूसरों को जिलाता है ।

: ४ :

तेल-उद्योग

हमारे देश में पुराने जमाने से तेल-उद्योग ग्राम और कुटीर-उद्योग के रूप में चलता आ रहा था। गांवों और कस्बों में तेली तेल पेरने का धंधा करते थे, किंतु मशीनों के आगमन के साथ उस कुटीर-उद्योग को भी बुरे दिन देखने पड़े। आज खादी और ग्राम-उद्योग-आयोग इस कुटीर-उद्योग को पनपाने की कोशिश कर रहा है।

भारत में तिलहन काफी मात्रा में पैदा होता है। सारी दुनिया में प्रति वर्ष एक अरब मन तिलहन पैदा होता है। उसमें से अकेला भारत चौदह करोड़ मन पैदा करता है। भारतीय तिलहनों में मूंगफली, अरंड के बीज, तिल, सरसों, अलसी आदि मुख्य हैं। कुछ तिलहन और तेल विदेशों को भेजा जाता है, कुछ रंग-रोगन एवं साबुन बनाने और दूसरे उद्योगों के काम में आता है और बाकी खाने के उपयोग में आता है।

अब देश में बहुत सारी तेल-मिलें कायम हो चुकी हैं। उनकी संख्या इस समय ७,५९७ है। उनमें ६,४०० छोटी मिलें हैं। ऐसी मिलों की संख्या एक हज़ार से कुछ ऊपर है, जो बिजली से चलती हैं और जिनमें हरएक में २० से अधिक व्यक्ति काम करते हैं। बड़ी और छोटी तेल-मिलों में कुल मिलाकर एक लाख तीन हजार व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है। सन १९११ की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि उस समय तेल-मिलों का अभाव-

सा था। तेल-मिलों में काम करनेवालों की संख्या ६७४५ थी। इसके मुकाबले तेल-कुटीर-उद्योग में पांच लाख बीस हजार से अधिक व्यक्ति काम पर लगे हुए थे। यद्यपि तेल-मिलों की स्थापना के बाद इस कुटीर-उद्योग में काम करनेवालों की संख्या कम होती चली गई, फिर भी सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार उसमें १,८४,५८८ व्यक्तियों को काम मिला हुआ था।

अनुमान है कि हमारे देश में करीब चार लाख घानियां चल रही हैं। इन घानियों में साल में पांच करोड़ साठ लाख मन तिलहन पेरा जा सकता है, किंतु इतना तिलहन उनको पेरने के लिए मिलता नहीं और इसलिए तेलियों को साल में मुश्किल से तीन महीने काम मिल पाता है और उन्हें अपनी गुजर-बसर के लिए दूसरा धंधा तलाश करना पड़ता है या बेकार रहना पड़ता है। यदि इन घानियों को पूरा तिलहन मिलने लगे तो करीब बीस लाख व्यक्तियों की रोटी-रोजी का सवाल हल हो सकता है। तेल-घानियों को ही नहीं, तेल-मिलों को भी पूरा तिलहन नहीं मिल पाता है। इसलिए साल में उन्हें भी कुछ समय बंद रहना पड़ता है।

देश की खाद्य तेलों की जरूरत आजकल ठीक-ठीक पूरी नहीं हो रही है। सन १९४६ में आहार सलाहकार कमेटी ने हिसाब लगाकर बताया था कि हमारे देश में हर व्यक्ति को प्रतिदिन पांच तोला चिकनाई मिलनी चाहिए। इस हिसाब से देश को वर्ष में बीस करोड़ मन खाद्य तेलों की जरूरत होगी, जबकि वर्तमान उत्पादन तीन करोड़ मन से भी कम है। इस समय एक व्यक्ति को औसतन प्रतिदिन पौन तोले से अधिक चिकनाई नहीं मिल पाती। अतः देश में खाद्य तेलों की पैदावार बढ़ानी होगी और यह भी प्रबंध करना पड़ेगा कि खाद्य तेलों को खाने के ही काम में लाया

जाय और उद्योगों के लिए अखाद्य तेल काम में लिये जायं। ऐसा होने पर देश के आहार में चिकनाई की जरूरत पूरी हो सकेगी।

तेल-मिलों में जो तेल पेरा जाता है, वह उसके ग्राहकों तक कई हाथों में होकर पहुंचता है। इसलिए उनमें मिलावट की संभावना बढ़ जाती है। इसके मुकाबले गांवों में लोग तेल-घानी से अपनी जरूरत का तेल शुद्ध रूप में प्राप्त कर सकते हैं। तेल-घानी को तिलहन मिलने की समस्या इस तरह हल हो सकती है कि किसान अपनी जरूरत के लायक तिलहन फसल के समय अपने पास बचाकर रख ले और उसे गांव के तेली को देकर तेल निकलवाले। इस तरह तेली के परिवार का भरण-पोषण भी हो सकेगा और किसान-परिवार की शुद्ध तेल की जरूरत भी पूरी हो जायगी। इसके लिए तिलहन से तेल निकालने के बाद जो खली बच रहती है, वह पशुओं के लिए बहुत उत्तम खाद्य होता है। उसके अभाव में पशु निर्बल हो रहे हैं।

खादी ग्रामोद्योग आयोग तेल-कुटीर-उद्योग के विकास के लिए अनेक योजनाओं पर अमल कर रहा है। एक नई तेल-घानी बनी है, जो 'वर्धा घानी' कहलाती है। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के दौरान में ऐसी पचास हजार सुधरी हुई वर्धा-घानियां तेलियों को दी जायंगी। पुरानी घानियों की भी उचित मरम्मत की जायगी और तेलियों की सहकारी समितियां भी संगठित की जायंगी और उनको इन समितियों का हिस्सेदार बनने के लिए बिना ब्याज रुपया उधार दिया जायगा। तेलियों को सुधरी हुई घानियां लगाने के लिए आर्थिक सहायता और बिना सूद कर्ज दिया जायगा। देश में सुधरी हुई घानियों के ४०० प्रदर्शन-केंद्र स्थापित किये जायंगे।

बढ़ई का काम करनेवालों को सुधरी हुई घानियां बनाने का प्रशिक्षण दिया जायगा। तेली की सबसे बड़ी समस्या यह है कि जब तिलहन सस्ता होता है तो उसे खरीदकर अपने पास नहीं रख सकता। सहकारी समितियों द्वारा इस समस्या को हल किया जा सकता है।

तेल-घानियों के खिलाफ यह शिकायत की जाती है कि वे तिलहन से तेल का पूरा अंश नहीं निकाल पातीं। सुधरी हुई तेल-घानी ने इस शिकायत को बहुत-कुछ दूर कर दिया है। साधारण घानी की तुलना में इस सुधरी हुई घानी से तेल का प्रतिशत अंश बढ़ गया है। पुरानी घानी की तुलना में इस घानी में एक घान में अधिक तिलहन डाला जा सकता है और उसको पेरने में समय भी कम लगता है। वर्धा-घानी में तिलहन में से ४१ प्रतिशत तक तेल का अंश निकल आता है। घानी के विभिन्न हिस्से लकड़ी के ही बनाये जाते हैं, किंतु ओखली सीमेंट की भी बनाई जा सकती है।

तेल-कुटीर-उद्योग को संरक्षण देने के लिए सरकार ने तेल-मिलों पर सवा रुपया प्रति मन के हिसाब से एक टैक्स भी लगाया है। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में उसके विकास के लिए छः करोड़ सत्तर लाख रुपया रखा गया है। शुद्ध आहार और लोगों को रोजगार देने की दृष्टि से यह उद्योग हमारे संरक्षण और समर्थन का अधिकारी है।

घानी एक बैल की मदद से चलती है। बैल को घानी के चारों ओर चक्कर काटना पड़ता है। इसलिए उसकी आंख पर पट्टी बांध दी जाती है। तेली के बैल को ध्यान में रखकर यह कहावत प्रचलित हो गई है कि 'नौ दिन चला अढ़ाई कोस'। घानी में पांच-

छः मुख्य हिस्से होते हैं। एक ओखली होती है और उसके नीचे के हिस्से में कोठा होता है। इस ओखली में ही तिलहन डाला जाता

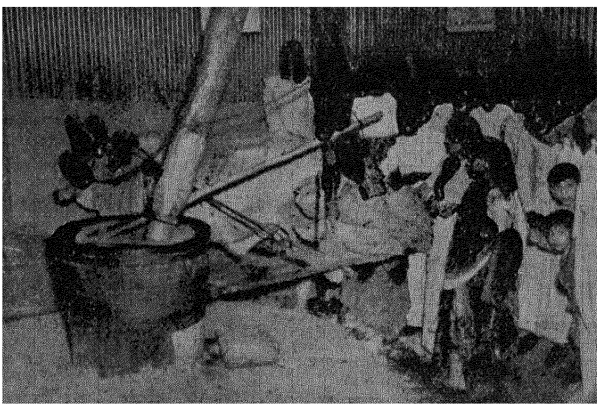

तेल-घानी

है। एक होती है लाट, जिसे मूसल भी कहते हैं। इसकी मदद से तिलहन पेरा जाता है। इसका ऊपर का भाग नुकीला होता और नीचे का फूला होता है। एक बांकुड़ी होती है, जिसकी मदद से लाट को बोझ-पाट के साथ जोड़ दिया जाता है और बैल इसी बोझ-पाट को खींचता है। वर्धा-घानी में तिल निकालने की मुहरी और तिलहन को लाट के नीचे धकेलने के लिए एक समेटनी होती है। वर्धा-घानी पुरानी घानी का ही सुधरा हुआ रूप है। इस घानी में सब प्रकार के तिलहन पेरे जा सकते हैं। तेल-घानी के अलावा तेल निकालने के कुछ और तरीके भी हैं। जैसे पानी और भाप की

मदद से और रासायनिक घोल के जरिये भी तेल निकाला जाता है, किंतु ये तरीके ज्यादा प्रचलित नहीं हैं। खाद्य तेलों को शुद्ध भी किया जाता है, ताकि उनमें से हानिकर तेजाब और गंध आदि दूर हो जाय। तेल को सुरक्षित रखने और खराब न होने देने के लिए भी कुछ उपाय काम में लाये जाते हैं।

: ५ :

अखाद्य तेल और साबुन-उद्योग

हम यह कह चुके हैं कि देश में खाद्य तेलों की कमी है और इसलिए जहांतक संभव हो, खाद्य तेलों को उद्योगों के काम में लेना ठीक नहीं होगा। उनको तो खाने के काम में लेना ही लाभदायक होगा। अखाद्य तेलों से साबुन-उद्योग का काफी विकास हो सकता है।

प्रकृति की कृपा से देश के करीब-करीब हर हिस्से में ऐसे पेड़ बहुतायत से मिलते हैं, जिनसे अखाद्य तिलहन मिल सकता है। इन पेड़ों में नीम, महुवा, करंज, अंडी और खाकन मुख्य हैं। खाकन को पीलू भी कहते हैं। इसके अलावा भी और कई किस्म के पेड़ों से तिलहन मिल सकता है। मुश्किल यह है कि ये पेड़ बहुत दूर-दूर फैले होते हैं, और उनके बीजों को आसानी से जमा नहीं किया जा सकता। इसलिए अखाद्य तिलहन से बहुत कम मात्रा में तेल निकाला जाता है। इस तरह का ज्यादातर तिलहन बेकार नष्ट हो जाता है। इस तरह राष्ट्रीय संपत्ति का नाश ही होता है। अगर इन अखाद्य तिलहनों को जमा किमा जाय और उनका तेल निकालकर साबुन-उद्योग में काम में लाया जाय तो हज़ारों आदमियों को रोजगार मिल सकता है। जो खाद्य तेल आज साबुन बनाने के काम में आते हैं, उनकी बचत हो सकती है और उन्हें खाने के काम में लिया जा सकता है।

इस समय काफी मात्रा में खाद्य तेल साबुन, रंग

रोगन बनाने और मशीनों आदि में देने के काम में आता है। सन् १९५२-५३ में करीब बीस लाख मन खाद्य तेल साबुन बनाने में, बारह लाख मन रंग-रोगन बनाने में और सात लाख मन मशीनों में देने के काम में लिया गया। खाद्य तेलों का औद्योगिक उपयोग बढ़ता जा रहा है और उसे रोकने के लिए हमको अखाद्य तेलों की ओर झुकना पड़ेगा। करंज का पेड़ मद्रास और मैसूर राज्यों में विशेष रूप से पाया जाता है। अकेले मद्रास राज्य में उनकी संख्या छत्तीस लाख अनुमान की जाती है। करंज के एक पेड़ से औसतन २५ सेर बीज प्रति वर्ष प्राप्त हो सकता है और उससे ३५ प्रतिशत तेल निकाला जा सकता है। करंज का तेल चमड़ा कमाने के काम में आता है, इसलिए उसकी मांग बढ़ रही है और इसलिए ग्रामीण तेल-घानियों के अलावा छोटी तेल-मिलें भी यह तेल पेरने का काम करने लगी हैं। आजकल नीम का तेल भी पेरा जाता है। वह कुछ तो दवाओं के और कुछ साबुन के काम में आता है। अकेले मद्रास राज्य में बीस हजार टन निबोली इकट्ठी की जाती हैं और उससे सोलह सौ टन नीम का तेल निकाला जाता है। किंतु इस राज्य में बहत्तर हजार टन निबोली इकट्ठी की जा सकती हैं और उनसे पांच हजार टन नीम का तेल प्राप्त किया जा सकता है। जरूरत इस बात की है कि अखाद्य तिलहनों को एकत्र करने का काम ठीक ढंग से किया जाय और उनको नष्ट न होने दिया जाय। सन १९५५-५६ में एक अंदाजा लगाया गया था, उसके अनुसार अखाद्य तिलहन संग्रह करने में बारह लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है। अवश्य ही यह काम मौसमी है और पंद्रह दिन से दो महीने में पूरा हो जायगा। इसके अलावा तेल पेरने के काम में

साठ हजार और साबुन बनाने के उद्योग में तीस हजार व्यक्तियों को और काम मिल सकता है। अखाद्य तिलहन को इकट्ठा करने और उससे साबुन बनाने के एक नये ही ग्राम-उद्योग का विकास किया जा सकता है।

साबुन-उद्योग का हमारे देश में काफी विकास हो सकता है। अभी हमारे यहां दूसरे देशों की तुलना में साबुन की खपत बहुत कम होती है। सन १९५४ में भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष साबुन की खपत साढ़े बारह औंस (छः छटांक) थी। पश्चिमी देशों में एक व्यक्ति साल में औसतन ४०० औंस साबुन काम में लेता है। दूसरी पंचवर्षीय आयोजना के अंत में यह आशा की जाती है कि हमारे देश में औसत खपत ३६ औंस हो जायगी और उसके लिए देश में तीन लाख टन साबुन का उत्पादन होना चाहिए। हमारे देश में साबुन के बड़े कारखानों की संख्या ५६ है और वे एक लाख नब्बे हजार टन साबुन तैयार कर सकते हैं।

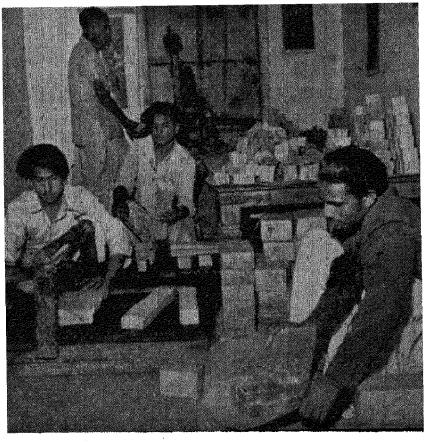

साबुन-उद्योग

किंतु उन्होंने सन् १९५५ में केवल निन्यानवे हजार टन साबुन बनाया। अगर वे पूरी शक्ति से काम करें तो भी साबुन बनाने के कुटीर-उद्योग के लिए काफी गुंजाइश बच रहेगी। साबुन बनाने में मूंगफली, नारियल और महुए का तेल काम में लिया जाता है क्योंकि अखाद्य तेलों का रंग ठीक नहीं होता है और उनमें दुर्गन्ध भी आती है। किन्तु उनको शुद्ध किया जा सकता है और उसके बाद उनसे साबुन बनाया जा सकता है। साबुन बनाने में अखाद्य तेलों के साथ थोड़ी मात्रा में खाद्य तेल भी मिलाने होंगे, किंतु उनकी मात्रा आज की अपेक्षा काफी कम की जा सकती है।

खादी-ग्राम-उद्योग आयोग ने अखाद्य तेलों में नीम के तेल का काम हाथ में ले लिया है। पहली आयोजना में इस काम के लिए अठारह लाख रुपया रखा गया था और तेल पेरने के सात केंद्र स्थापित किये गए थे। साबुन बनाने का एक कारखाना भी कायम किया गया था। करीब एक लाख मन साबुन नीम के तेल से बनाया गया। आयोग अखाद्य तिलहन से तेल निकालने और साबुन बनाने के केंद्र कायम करने के लिए आर्थिक सहायता और कर्ज भी देता है। इस उद्योग की शिक्षा देने के लिए देश में सात-आठ केंद्र चल रहे हैं और शिक्षार्थियों को छात्र-वृत्ति भी दी जाती है।

: ६ :

गुड़ और खांडसारी-उद्योग

पुराणों में राजा त्रिशंकु की कथा आती है। विश्वामित्र ऋषि ने इस राजा को अपने तपोबल से संदेह स्वर्ग पहुंचा दिया था, किंतु देवताओं ने उसे स्वर्ग से वापस नीचे धकेल दिया। कहते हैं कि त्रिशंकु स्वर्ग के बगीचे से गन्ने का पौधा ले आये थे। यही गन्ना हमको मीठे रस और मीठे पदार्थ देता है। शायद गन्ने की खेती सबसे पहले भारत में ही शुरू हुई, क्योंकि गन्ने का भारत के प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। भारत की संस्कृति गुड़ को मांगलिक पदार्थ मानती है, जो गन्ने के रस से ही बनता है। तरह-तरह की स्वादिष्ट मिठाइयां हमको गन्ने की कृपा से ही मिलती हैं।

गुड़ और खांडसारी हमारे देश का एक महत्वपूर्ण कुटीर-उद्योग है। किसानों के लिए यह सहायक धंधा है और यह करीब बीस लाख व्यक्तियों को रोजगार देता है। कोई दस हजार व्यक्ति तो अपनी रोजी के लिए पूरी तरह इसीपर निर्भर करते हैं। इस उद्योग में आदमियों को ही नहीं, पांच लाख बैलों को भी काम मिलता है। यह उद्योग वर्ष में तीन-चार महीने चलता है।

हमारे देश में गन्ने की खेती करीब चालीस लाख एकड़ भूमि में होती है। उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक गन्ना पैदा होता है और गुड़ भी सबसे अधिक वहीं बनता है। ५० प्रतिशत से भी अधिक गुड़ का उत्पादन उत्तर प्रदेश में होता है। पहले तो गन्ने से गुड़ ही बनाया जाता था, किंतु अब देश में अनेक चीनी-मिलें कायम हो

गई हैं, जो सफेद दानेदार चीनी बनाती हैं। इन चीनी-मिलों की संख्या १६० के आस-पास है। किंतु देश में जितना गन्ना पैदा होता है, उसका २५-३० प्रतिशत से अधिक चीनी-मिलें काम में नहीं ले पातीं। गन्ने की पैदावार का ५५-६० प्रतिशत गुड़ बनाने के काम आता है और शेष २० प्रतिशत खांडसारी और बीज के लिए बचा रहता है। इससे हम अंदाज लगा सकते हैं कि चीनी-मिलों के कायम होने के बाद भी गुड़ और खांडसारी उद्योग ही गन्ने की फसल के एक बहुत बड़े हिस्से को काम में लाता है। उससे ग्रामीणों के मीठे पदार्थ की जरूरत पूरी होती है। गांवों में कुछ समय से चीनी का प्रचार बढ़ रहा है, फिर भी गुड़ की खपत कम नहीं है। अवश्य ही चीनी की पैदावार बढ़ने के साथ गुड़ का उत्पादन कम हो रहा है। सन् १९३७-३८ में गुड़ का उत्पादन सबसे अधिक यानी तैतालीस लाख टन हुआ था। हाल के वर्षों में उनकी पैदावार अट्ठाईस और इकत्तीस लाख टन के बीच है।

गुड़ आहार की दृष्टि से चीनी की अपेक्षा अधिक लाभदायक पदार्थ है। उसमें गन्ने के रस में पाये जानेवाले पोषक और खनिज तत्व करीब-करीब ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। हमारे देश में दूसरे देशों के मुकाबले चीनी और गुड़ की खपत बहुत थोड़ी मात्रा में होती है। उदाहरण के लिए प्रति व्यक्ति चीनी की खपत आस्ट्रेलिया में १४३ पौंड, अमरीका में १०६ पौंड, और ब्रिटेन में ९२ पौंड है, जबकि हमारे देश में चीनी और गुड़ की खपत का औसत केवल ३६ पौंड ही है। भोजन-सलाहकार-समिति का कहना है कि हमारे देश में मनुष्यों को स्वस्थ रखने के लिए कम-से-कम प्रति व्यक्ति वर्ष में ४५ पौंड चीनी और गुड़ अवश्य ही मिलना चाहिए। लोगों की आर्थिक हालत सुधरेगी तो वे पहले से ज्यादा मीठे

पदार्थों का उपयोग करेंगे। इस तरह गुड़ और चीनी की खपत भी बढ़ेगी और यह उद्योग विकसित हो सकेगा।

गुड़ और खांडसारी-उद्योग की मौजूदा हालत संतोषजनक नहीं कही जा सकती। आज जिन कोल्हुओं पर गन्ना पेरा जाता है, उनसे गन्ने का पूरा रस नहीं निकलता। परंपरागत भट्टियों और कड़ाहों पर गुड़ बनाने का खर्च भी अधिक बैठता है। और अच्छी किस्म का गुड़ तैयार नहीं होता। फिर गुड़ को संग्रह करके रखने और उसकी बिक्री करने का ठीक प्रबंध नहीं है। इन कारणों से एक हिसाब के अनुसार इस उद्योग को साल में चव्वन करोड़ रुपये का घाटा उठाना पड़ रहा है।

गुड़ और खांडसारी का आपस में भाई-बहन का रिश्ता है। गुड़ की कीमतें गिरने लगती हैं तो खांडसारी बनाकर इस हानि को रोकने की कोशिश की जाती है। खांडसारी-उद्योग को चीनी-मिलों से कुछ विशेष सुविधाएं मिली हुई हैं। खांडसारी चीनी से कुछ सस्ती बिकती है, किंतु गुड़ और चीनी के दामों में जितना अंतर है, उतना खांडसारी और चीनी के दामों में नहीं होता। खांडसारी का उत्पादन सन् १९५४-५५ में एक लाख टन हुआ था, किंतु सन् ५७-५८ में वह बढ़कर तिगुना यानी तीन लाख टन हो गया। इससे मालूम होता है कि देश में खांडसारी की मांग बढ़ रही है। खांडसारी-उद्योग को मध्यम श्रेणी के लोगों ने अपनाया है, किंतु गन्ना-उत्पादक किसान भी अपनी सहकारी समितियां बनाकर इस उद्योग को अपने हाथ में ले सकते हैं।

यह कहा जाता है कि गुड़ और खांडसारी-उद्योग के मुकाबले चीनी-मिलों में गन्ने से अधिक रस प्राप्त किया जाता है और चीनी की मात्रा भी अधिक मिलती है। यह सही है। किंतु यह भी ध्यान

में रखने की बात है कि चीनी-मिलों में चीनी बनाने के बाद जो शीरा बच रहता है, वह मनुष्यों के खाने लायक नहीं रहता। खांडसारी और गुड़-उद्योग में जो भी पदार्थ तैयार होते हैं, वे सब मनुष्यों के खाने योग्य होते हैं। चीनी-मिल में १०० मन गन्ने से ९.८५ मन चीनी प्राप्त की जाती है, जबकि खांडसारी में ५·२५ मन शक्कर, ३·५८ मन गुड़ और २·६४ मन शीरा मिलता है, जिसका कुल योग ११·४७ मन होता है। इस कार १०० मन गन्ने से ११ मन गुड़ प्राप्त किया जाता है।

गुड़ और खांडसारी-उद्योग के विकास के लिए हमको कई बातें करनी होंगी। गुड़ बनाने के लिए सुधरे हुए औजार काम में लाने होंगे और गुड़ बनाने के तरीके में सुधार करना होगा। गुड़ को किस्म के अनुसार बांटना होगा और उसको सुरक्षित रखने के लिए अच्छे गोदामों की व्यवस्था करनी होगी, ताकि जब बाजार-भाव ठीक हो, तो उसे फायदे से बेचा जा सके। यह काम अकेले किसान के वश का नहीं है। वे सहकारी समितियों के रूप में संगठित होकर इस उद्योग की हालत सुधार सकते हैं। खादी और ग्रामोद्योग आयोग गुड़-उत्पादकों की सहकारी समितियों को अनेक तरह से मदद देता है। वह सौ रुपये के शेयर (हिस्से) पर सत्तासी रुपये आठ आना बिना सूद उधार देता है। सुधरे हुए औजार देता है। विशेष किस्म के गोदाम बनाने और पूंजी सुलभ करने के लिए कर्ज देता है। कार्यकर्ताओं को सुधरे हुए ढंग से गुड़ बनाने की शिक्षा देता है। वे देहातों में घूमकर लोगों को सुधरा हुआ तरीका बताते हैं। सरकार ने दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में गुड़ और खांडसारी-उद्योग के विकास के लिए सात करोड़ रुपया रखा था।

: ७ :

ताड़-गुड़-उद्योग

प्रकृति ने मनुष्य की भलाई के लिए बिना मांगे बहुत-सी मूल्यवान वस्तुएं दी हैं। मनुष्य को भगवान् ने जो बुद्धि दी है, उससे वह प्रकृति की इस देन की कीमत आंक सकता है और उससे लाभ उठा सकता है। किन्तु अपने अज्ञान या लापरवाही के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता और प्रकृति की संपदा बेकार पड़ी रह जाती है, या नष्ट हो जाती है।

हमारे देश में ताड़ और उससे मिलते-जुलते ऐसे पेड़ बड़ी संख्या में मिलते हैं, जिनके रस से गुड़ बनाया जा सकता है। इस तरह के पेड़ों में ताड़, खजूर, सागो और नारियल मुख्य हैं। ताड़-गुड़ बनाने के लिए मुख्यतः ताड़ और खजूर के पेड़ों का ही उपयोग किया जाता है। हमारे देश में गन्ने की खेती शुरू हुई, उससे पहले से लोग इन पेड़ों के रस से गुड़ बनाने की विधि जान गये थे और देश के कुछ भागों में ताड़-गुड़-उद्योग बड़े पुराने जमाने से चला आ रहा है। यह उद्योग आजकल मद्रास, आंध्र, मैसूर, केरल और पश्चिमी बंगाल में विशेष रूप से चलता है। अब उसे बंबई, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि में भी शुरू किया जा रहा है।

ताड़ और खजूर के पेड़ अपने-आप उगते हैं और उनकी कोई विशेष देखभाल नहीं करनी पड़ती। ऐसे पेड़ों की संख्या हमारे देश में पांच करोड़ के आस-पास अनुमान की जाती है। किंतु गुड़ बनाने

के लिए केवल पच्चीस लाख पेड़ों का प्रयोग हो रहा है। पचास-साठ लाख पेड़ ताड़ी बनाने के काम में आते हैं। बाकी पेड़ बेकार पड़े रहते हैं। हिसाब लगाया गया है कि ५० पेड़ों के रस से साल में औसतन १ टन (२८ मन) गुड़ तैयार किया जा सकता है। ताड़-गुड़ का मौजूदा उत्पादन साठ हजार टन अनुमान किया जाता है। अगर देश में पाये जानेवाले सभी ताड़ और खजूर के पेड़ों का उपयोग किया जाने लगे, तो ताड़-गुड़ का उत्पादन पंद्रह लाख टन तक बढ़ सकता है।

ताड़-गुड़-उद्योग बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार दे सकता है। ताड़-वृक्षों से जो रस निकलता है, उसे नीरा कहते हैं। इसे गन्ने के रस की भांति कच्चा भी पिया जा सकता है। ताड़-वृक्षों से नीरा एक खास मौसम में ही प्राप्त होता है, इसलिए यह उद्योग सारे साल नहीं चल सकता—चार से छः महीने तक चलता है। जो आदमी नीरा प्राप्त करने की कला जानता है, वह एक दिन में २५-३० पेड़ों से निपट सकता है। इस समय ताड़-वृक्षों से नीरा निकालनेवालों की संख्या डेढ़ लाख के लगभग है। उनके अलावा करीब एक लाख और व्यक्तियों को सहायक के रूप में इस उद्योग में रोजगार मिला हुआ है। यदि इस उद्योग का पूरा विकास हो जाय, तो उसमें बीस-पच्चीस लाख लोगों को काम मिल सकता है। सरकार ने इस उद्योग की रोज़गार देने की क्षमता को देखकर ही उसे बढ़ावा देने का निश्चय किया है।

ताड़ के रस का उपयोग ताड़ी बनाने के काम में भी किया जाता है। यह इसका दुरुपयोग ही है। ताड़ी एक प्रकार की शराब है, जिसके इस्तेमाल से आदमी पैसे की बरबादी तो करता ही है, अपने स्वास्थ्य का भी नाश करता है। हमारी सरकार

देश में धीरे-धीरे नशाबंदी की नीति अपना रही है। कानून द्वारा ताड़ी और दूसरी शराबें बनाने पर कुछ राज्यों में रोक लगा दी गई है और दूसरी जगह भी ऐसा ही होगा। अतः ताड़-गुड़-उद्योग का विकास सरकार की नशाबंदी की नीति में सहायक होगा।

देश में चीनी और गुड़ की खपत बढ़ रही है। चीनी को विदेशी मुद्रा कमाने के खयाल से विदेशों को भेजने की जरूरत महसूस की जा रही है। गन्ने के गुड़ का भी विदेशों को निर्यात किया जा सकता है। अब चीनी और गुड़ की जरूरत पूरी करने के लिए हमको गन्ने की खेती बढ़ानी पड़ेगी। इसका मतलब यह हुआ कि ज्यादा भूमि में गन्ना बोना पड़ेगा। अभी चालीस लाख एकड़ भूमि में गन्ने की खेती होती है। जब देश में अनाज की कमी है तब अनाज पैदा करने की बजाय गन्ने की खेती को बढ़ाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा। अगर पचास ताड़-वृक्षों का गुड़ बनाने के लिए उपयोग किया जाय, तो एक एकड़ उपजाऊ भूमि को अनाज की खेती के लिए बचाया जा सकता है। इस हिसाब से पांच करोड़ ताड़-वृक्षों का उपयोग करके हम दस लाख एकड़ भूमि को अनाज की उपयोगी खेती के लिए सुरक्षित कर सकते हैं।

गन्ना-गुड़-उद्योग के मुकाबले ताड़-गुड़-उद्योग को अनेक सुविधाएं हासिल हैं। ताड़ के वृक्षों की आयु ३० से ५० वर्ष की होती है और उनसे प्रति वर्ष रस प्राप्त किया जा सकता है। गन्ने की तरह उनकी खेती नहीं करनी पड़ती। गन्ने को पेरने के लिए जैसे औजारों की ज़रूरत होती है, वैसी ताड़-गुड़-उद्योग में नहीं होती। ताड़ के रस को आसानी से शुद्ध किया जा सकता है। उसमें गन्ने के रस की तरह शीरा नहीं बचता। उसमें गन्ने के गुड़ की अपेक्षा शर्करा तत्व भी अधिक होता है। यही नहीं, ताड़-गुड़ में विटामिन

और पोषक तत्व भी ज्यादा पाये जाते हैं।

ताड़-गुड़-उत्पादकों को कुछ कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ रहा है। भूमिहीन मजदूर ताड़-वृक्षों से नीरा निकालते हैं। ये पेड़ या तो व्यक्तिगत जमीन में होते हैं या सरकारी जमीन में। इनके मालिक इन मजदूरों से काफी पैसा लेते हैं। कहीं-कहीं उपज का आधा भाग ले लेते हैं। फिर नीरा निकालने का लाइसेंस लेना पड़ता है, जिसे प्राप्त करने में कठिनाई होती है। आजकल ताड़-गुड़-उत्पादन का खर्च अधिक पड़ता है और इसलिए वह गन्ने के गुड़ से महंगा पड़ता है। सुधरी हुई भट्टियों को काम में लिया जाय, तो ईंधन के खर्च में बचत हो सकती है। गुड़ के स्वाद और रंग में भी सुधार किया जा सकता है। ताड़-गुड़ की बिक्री का भी समुचित प्रबंध करना होगा। ताड़-गुड़-उत्पादक अभी असंगठित हैं। कुछ राज्यों में उनकी सहकारी-समितियां संगठित की गई हैं। खादी-ग्रामोद्योग-आयोग इस उद्योग के विकास का प्रयत्न कर रहा है। उसने नमूने के उत्पादन और प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना की है। ताड़-गुड़-उत्पादक सहकारी समितियों और संस्थाओं को सहायता और कर्ज दिया जाता है। ताड़-वृक्षों की देखभाल, उनके समुचित उपयोग और ताड़-गुड़ बनाने के लिए सुधरे हुए औजार और तरीके काम में लाकर इस उद्योग को काफी लाभदायक बनाया जा सकता है और बेकारी की समस्या को हल करने के साथ-साथ राष्ट्र की दौलत को बढ़ाया जा सकता है।

: ८ :

मधुमक्खी-पालन

अगर हमसे कोई पूछे कि खाने-पीने के मीठे पदार्थों में सबसे बढ़िया पदार्थ कौन-सा है, तो हम बिना किसी संकोच के मधु अथवा शहद का नाम लेंगे। हमारे देश में हजारों साल से लोग शहद को काम में लेते आ रहे हैं। जब हम अपने देश की खुशहाली की कल्पना करते हैं, तो कहते हैं कि हमारे यहां घी, दूध और शहद की नदियां बहा करती थीं। शहद को यह महत्व उसके गुणों के कारण ही मिला है। वह अनेक रोगों को दूर भगाता है और शरीर को आवश्यक ताप, शक्ति और पोषण देता है। वैद्यक के ग्रंथों में इसकी बड़ी महिमा बखानी गई है। खाने में स्वादिष्ट और गुणों से भरपूर यह पदार्थ आज हम लोगों को आसानी से और काफी मात्रा में नहीं मिलता। दुनिया के दूसरे देशों में शहद की औसत खपत बहुत ज्यादा है। वहां यह पैदा भी अधिक मात्रा में किया जाता है। भारत मधुमक्खियों की जन्मभूमि समझा जाता है। उनका वंश-विस्तार दुनिया में यहीं से हुआ है। किंतु हम मधुमक्खियों के पालन और शहद के उत्पादन में दूसरे देशों से पिछड़ गये। उस कमी को हमें अब दूर करना होगा। पश्चिम के देशों में मधुमक्खी-पालन की जो वैज्ञानिक विधि अपनाई गई है, उसे हमें भी अपनाना होगा। कुछ वर्षों से हमारे देश में वैज्ञानिक ढंग से मधुमक्खी-पालन का उद्योग शुरू हुआ है। उसे सबसे पहले दक्षिण भारत में एक अमरीकी पादरी ने शुरू

किया था। उसने दूसरों को सिखाया। यह उद्योग अभी अपनी बाल्यावस्था में है। उसका विकास करने की जिम्मेदारी खादी और ग्रामोद्योग आयोग ने अपने सिर पर ली हुई है और वह लोगों को मधुमक्खी पालने के लिए उत्साहित कर रहा है। उसका शिक्षण भी देता है। उपयुक्त क्षेत्रों में यह उद्योग किसान के लिए सहायक धंधा हो सकता है और एक मधुमक्खी-पालक इस उद्योग से साल में डेढ़सौ-दोसौ रुपये की अतिरिक्त आमदनी कर सकता है।

भारत में अनेक प्रकार की मधुमक्खियां पाई जाती हैं और उनके द्वारा तैयार किया गया शहद भी अलग-अलग किस्म का होता है। हमारे देश में एक तो बड़ी मक्खी होती है। यह प्रचुर मात्रा में शहद तैयार करती है। देश की शहद की उपज का ९० प्रतिशत भाग यही मक्खी पैदा करती है। वह एक जगह टिककर नहीं रहती। यह भयंकर भी होती है। उसके काटने का परिणाम घातक होता है। यह पहाड़ों में पाई जाती है। एक छोटी मक्खी होती है, जिसे पुष्प-मक्खी कहते हैं। यह भी आम तौर पर पाई जाती है, किंतु यह बहुत कम शहद बना पाती है। मधुमक्खी-पालक आम तौर पर जिस मक्खी को पालते हैं, उसे अंग्रेज़ी में 'एपिस इंडिका' अर्थात् भारतीय मक्खी कहते हैं। यह काफी शहद इकट्ठा करती है। इन मधुमक्खियों की स्वाभाविक बस्तियों से एक छत्ते से वर्ष में १५ पौंड शहद प्राप्त किया जा सकता है। यदि उनको बनावटी मधु-घरों में ठीक ढंग से पाला जाय, तो प्रत्येक से एकसौ पौंड तक शहद लिया जा सकता है।

जंगलों और पहाड़ों में मधुमक्खियां पेड़ों पर, चट्टानों की दरारों आदि में अपने छत्ते बनाती हैं। इनसे लोग बड़े बेढंगेपन से

शहद प्राप्त करते हैं। मधुमक्खियों को मार देते हैं, जला देते हैं और छत्तों को इस तरह निचोड़ते हैं कि मधुमक्खी के अंडे-बच्चे भी नष्ट हो जाते हैं। मधुमक्खियों के लिए थोड़ा भी शहद पीछे नहीं छोड़ते, जो जरूरत के समय उनके काम आ सके। सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी की गरदन मरोड़ देने जैसी यह बात है। हाल के वर्षों में लोग मिट्टी की हांडियां या लकड़ी के लट्ठों में मधुमक्खी द्वारा तैयार किया गया मोम लगाकर मधुमक्खियों को पालने लगे हैं, किंतु शहद निकालने का तरीका वही बेढंगा है। मधुमक्खी पालने का आधुनिक तरीका यह है कि मधुमक्खियों के रहने के लिए कई खंडों और चौखटोंवाला लकड़ी का घर बनाते हैं। इसमें नीचे-ऊपर चार खाने होते हैं। उनको तख्ता, जाली या कपड़ा लगाकर एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। सबसे नीचे-वाले खंड में मधुमक्खी के घुसने और निकलने के छेद बना दिये जाते हैं। तले के ऊपर का खाना मक्खियों व अंडे-बच्चों के लिए होता है। इसे छत्ताधार कहते हैं। इसमें मक्खियां अपने और अपने बच्चों के लिए भोजन रखती हैं। ऊपर के चौखटों को शहद की कोठरियां कह सकते हैं। इनमें मक्खियां शहद इकट्ठा करती हैं। इस विधि से मधुमक्खियों के अंडों-बच्चों की रक्षा की जाती है। उनके लिए

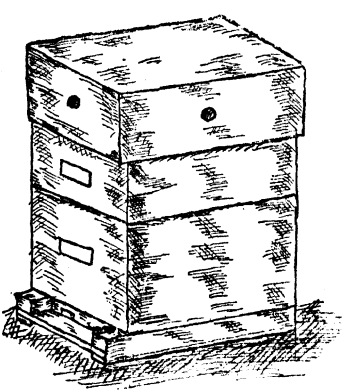

मधुमक्खियों का घर

जरूरी खुराक छोड़ी जाती है और फालतू शहद ही प्राप्त किया जाता है।

मधुमक्खियों में एक रानी-मक्खी होती है। उसका काम केवल अंडे देना होता है। वह न हो, तो मक्खियों का वंश-विस्तार नहीं हो सकता। कर्मठ मक्खियां शहद इकट्ठा करती हैं और रानी मक्खी की सेवा करती हैं। कुछ नर-मक्खियां भी होती हैं। उनके संयोग से रानी-मक्खी गर्भ धारण करती है। कर्मठ मक्खियां नर-मक्खियों की तादाद नहीं बढ़ने देतीं। उन्हें मार डालती हैं, क्योंकि वे शहद इकट्ठा नहीं करतीं और दूसरों की कमाई पर जीवित रहती हैं। मधुमक्खी-पालन का काम बड़ा दिलचस्प है, किंतु उसमें बड़े धीरज की जरूरत है।

मधुमक्खियां मनुष्य का ही उपकार नहीं करतीं, बल्कि खेती और बागवानी को भी बड़ा लाभ पहुंचाती हैं। वे पेड़-पौधों के फूलों का पराग लेकर दूसरे पेड़-पौधों तक पहुंचाती हैं और इस तरह उनके फूलने-फलने में सहायता पहुंचाती हैं। फूलों की पैदावार बढ़ाने में उनका खास हाथ होता है। वे वनस्पति में छिपे खजाने को बाहर लाती हैं। मधुमक्खी बहुत ही सक्रिय और सामाजिक प्राणी है। थोड़ा श्रम करके उसे पाला जा सकता है और भरपूर लाभ उठाया जा सकता है।

खादी ग्रामोद्योग-आयोग को मधुमक्खी-पालन-उद्योग का विकास करने में अच्छी सफलता मिली है। लगभग ग्यारह हजार मधुमक्खी-पालकों को उसने सहायता दी है। वे करीब चालीस हजार आधुनिक मधुमक्खी-गृहों के मालिक हैं। वे साल में करीब चार लाख पौंड शहद पैदा करते हैं, जिसका मूल्य लगभग आठ लाख रुपया होता है। आयोग की ओर से प्रशिक्षित कार्यकर्ता

ग्रामीणों को मधुमक्खी-पालन की शिक्षा देते हैं और मधुमक्खी-घरों की देखभाल करते हैं। मधुमक्खी-पालकों की सहकारी समितियों को कर्ज और सहायता भी दी जाती है। परंपरागत ढंग से शहद निकालने की विधि, शहद में मिलावट और शहद के ऊंचे दाम, इस उद्योग के विकास में बाधक हो रहे हैं। किंतु जैसे-जैसे लोग इस उद्योग को अपनायेंगे और अच्छे शहद के लिए बाजार सुलभ होगा, वैसे-वैसे यह उद्योग विकसित होगा और लोगों की तथा राष्ट्र की आय में वृद्धि करेगा।

: ६ :

धान-हाथ-कुटाई उद्योग

चावल हमारे देश के अनेक भागों का मुख्य आहार है। देश की जनसंख्या का लगभग ७० प्रतिशत भाग मुख्य रूप से चावल खाता है। देश की करीब सात करोड़ एकड़ भूमि में धान की खेती होती है, जो कुल अनाज की खेती का ३५ प्रतिशत से कुछ अधिक होता है। हम प्रतिवर्ष करीब चार करोड़ टन धान पैदा करते हैं, जो कुल अनाज की पैदावार का ४४ प्रतिशत होता है। देश में अभी अपनी जरूरत के लायक पूरा चावल पैदा नहीं होता और इसलिए कई लाख टन चावल हर वर्ष विदेशों से मंगाना पड़ता है।

हमारे देश में धान को हाथ से कूटने का आम रिवाज था। मुख्यतः स्त्रियां इस काम को करती थीं। लोग आम तौर पर फुरसत के समय अपने घर की जरूरत के लायक धान कूट लिया करते थे और इस तरह घर-खर्च में बचत हो जाती थी। कुछ लोग, खासकर गांव की औरतें, पूरे समय धान-कुटाई का काम करते थे और उनको साल में पांच महीने रोजगार मिल जाता था। धान की हाथ-कुटाई का यह उद्योग आज भी हमारे गांवों में चल रहा है, किंतु जबसे देश में चावल-मिलों की स्थापना हुई है, हाथ-कुटाई करनेवाले इस ओर से उदासीन होते जा रहे हैं। मद्रास राज्य में सबसे अधिक चावल-मिलें कायम हुई हैं। इस समय फैक्टरी कानून के अनुसार रजिस्टरशुदा चावल-मिलों की संख्या १,४००

है। जो चावल-मिलें रजिस्टर नहीं हुई हैं, अगर उनको भी जाड़ लिया जाय, तो उनकी कुल संख्या दस हजार तक पहुंच जायगी। इसके बावजूद धान-हाथ-कुटाई-उद्योग अनेक कारणों से आज भी जीवित है। कुछ समय पहले तक ७५ प्रतिशत धान हाथ से कूटा जाता था, किंतु जबसे सरकार ने खरीद शुरू की और चावल-मिलों से उसने कुटवाना शुरू किया, यह औसत घटकर ६० प्रतिशत ही रह गया है। इस समय चावल-मिलें करीब डेढ़ करोड़ टन चावल की कुटाई कर रही हैं।

हाथ-कुटाई-उद्योग के विकास की बहुत अधिक गुंजाइश है। चावल का औसत वार्षिक उत्पादन अगर दो करोड़ टन माना जाय तो उसमें से ६० प्रतिशत के हिसाब से एक करोड़ बीस लाख टन चावल अभी भी हाथकुटाई-उद्योग के द्वारा तैयार होता है। एक मौसम में औसतन एक व्यक्ति दो टन चावल तैयार कर सकता है। इस हिसाब से हाथ-कुटाई-उद्योग में साठ लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल रहा है। अवश्य ही केवल मजदूरी के लिए बहुत कम आदमी इस काम को करते हैं। लोग अपने घर के उपयोग के लिए खुद धान कूट लेते हैं। फिर भी सन् १९५१ में दो लाख व्यक्ति धंधे के रूप में धान-कुटाई का काम करते थे। इस के मुकाबले चावल की रजिस्टर्ड मिलों में केवल तिरेपन हजार व्यक्तियों को ही काम मिला हुआ था। यदि धान-कुटाई की औसत मजदूरी डेढ़ रुपया प्रति मन भी मान ली जाय, तो यह उद्योग ग्रामीणों को करीब पचास करोड़ रुपया वार्षिक की आमदनी कराता है। अगर देश में पैदा होनेवाला सारा ही धान हाथ से कूटा जाने लगे, तो ग्रामीणों को तैंतीस करोड़ रुपये का और लाभ हो सकता है।

चावल-मिलों के मुकाबले हाथ-कुटाई उद्योग में एक बड़ी

विशेषता है। हाथ-कुटाई की विधि से कम-से-कम तीन प्रतिशत चावल अधिक प्राप्त होता है। अगर सारा चावल हाथ-कुटाई की विधि से तैयार हो तो अभी की अपेक्षा तीन लाख साठ हजार टन चावल अधिक मिल सकता है। यह चावल करीब सत्तर लाख लोगों के लिए काफी होगा। इस समय, जबकि देश में अनाज की कमी है और लाखों टन अनाज विदेशों से मंगाना पड़ रहा है, चावल की यह अतिरिक्त उपलब्धि काफी महत्व रखती है। उसके द्वारा हम करीब छत्तीस करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा बचा सकते हैं। चावल-मिलों में मशीनरी अधिकतर हलर किस्म की है। उसमें चावल की काफी बरबादी होती है। जो भूसा वे निकालती हैं, उसमें अधिक मात्रा में चावल के टुकड़े रह जाते हैं। इस भूसे में दूसरी भी दूषित चीजें रहती हैं। जानवर जब उसे खाते हैं तो उनपर उसका बुरा असर पड़ता है। इसलिए यह भूसा चावल-मिलें ईंधन के काम में लेती हैं। दूसरे, हलर मिलों में बिजली का खर्च भी ज्यादा होता है। अतः सरकार ने खुद स्वीकार किया है कि हलर मिलों को बन्द कर दिया जाय और उनकी जगह शेलर मिलें कायम की जायं। किन्तु शेलर मिलों का भी ग्रामीणों के रोजगार पर असर पड़ेगा ही।

हाथ-कुटाई-विधि की श्रेष्ठता आहार-विशेषज्ञों ने भी स्वीकार की है। चावल में विटामिन और दूसरे पोषक तत्व होते हैं, वे इस विधि में सुरक्षित रहते हैं, जबकि चावल-मिलों में उनका अधिकतर भाग नष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि जब लोग सत्वहीन चावल खाते हैं, तो उससे 'बेरी-बेरी' रोग पैदा हो जाता है। चावल-मिलों ने चावल पर ज्यादा पालिश चढ़ाकर लोगों की आदत को बिगाड़ दिया है। चावल पर जितनी अधिक

पालिश की जाती है, उतना ही उसका पोषक तत्व कम हो जाता है। हाथ-कुटे चावल में भले ही उतनी चमक न हो, किन्तु वह अधिक स्वादिष्ट और लाभदायक होता है। चावल के पोषक तत्वों की रक्षा करने के लिए उन्हें बनाते समय भी सावधानी रखनी चाहिए। चावल को बार-बार पानी से धोने और पकाने के लिए जरूरत से ज्यादा पानी चढ़ाने और उस पानी को फेंक देने से चावल के आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं। चावल को मिलों में पालिश कराने से पहले उबालने का रिवाज है। इस विधि से चावल के पोषक तत्वों की थोड़ी रक्षा जरूर होती है। किन्तु हाथ-कुटाई की विधि ही इसके लिए सर्वश्रेष्ठ है।

हाथ-कुटाई-उद्योग में भी सुधार करने की जरूरत है। इसके लिए सुधरे हुए औजार दाखिल करने होंगे। औजारों में एक तो हाथ चक्की चाहिए, जो चावल के छिलके को अलग कर सके। दूसरे, भूसे और चावल को अलग करने के लिए पंखा चाहिए। तीसरे, चावल पर पालिश करने के लिए ढेकी की जरूरत होती है। खादी और ग्रामोद्योग-आयोग ने इस उद्योग के विकास का काम हाथ में लिया है। उसने सुधरे हुए औजार तैयार कराये हैं और उन्हें कम खर्च पर ग्रामीणों को सुलभ किया जाता है। हाथकुटा चावल बेचने के डिपो भी शहरों में खोले जा रहे हैं। अगर खादी और ग्रामोद्योग का कार्यक्रम सफल हो जाता है, तो छब्बीस लाख व्यक्तियों को और रोजगार मिल जायगा और एकसौ चौरासी करोड़ रुपया वार्षिक उनमें वितरित होने लगेगा। उत्पादकों की सहकारी समितियां भी संगठित होनी चाहिए। सहकारी समितियों को आयोग कर्ज और काम चलाने के लिए पूंजी सुलभ करेगा, ताकि मौसम पर धान जमा किया जा सके और गोदाम में हाथ-कुटाई के

बाद चावल का संग्रह करके रखा जा सके। वैसे धान-कुटाई का धंधा चलाने के लिए विशेष पूंजी की आवश्यकता नहीं होती। कुल ३०० रुपये की पूंजी से काम चल जाता है और एक श्रमिक बारह आने से सवा रुपये तक रोज कमा सकता है। दूसरी पंच-वर्षीय आयोजना में सरकार ने इस उद्योग के विकास के लिए पांच करोड़ रुपया रखा है। सरकार हाथ-कुटे चावल पर प्रति मन छः आना की आर्थिक सहायता भी देती है। सरकार ने यह भी स्वीकार किया है कि चावल-मिलों को लाइसेंस दिये जायं और बिना विशेष कारणों के नई चावल-मिलें खुलने न दी जायं और न मौजूदा मिलों की क्षमता को ही बढ़ाया जाय। धान-हाथ-कुटाई उद्योग में लोगों को रोजगार देने, चावल के पोषक तत्वों की रक्षा करने और अतिरिक्त चावल उपलब्ध करने की जो क्षमता है, उसको देखते हुए सरकार को उसे पोषण और संरक्षण देना ही चाहिए। जनता भी हाथकुटे चावल को अपनाकर ग्रामीणों की भलाई करने के साथ-साथ अपना भी फायदा कर सकती है।

: १० :

चमड़ा-उद्योग

गांव का चमड़ा-उद्योग एक प्रमुख कुटीर उद्योग है। इस उद्योग को चमार, रेगर, महार आदि हरिजन-जातियां करती हैं। मवेशियों की खाल को उतारना, उनको कमाकर चमड़ा तैयार करना और जूते और चमड़े की दूसरी चीजें बनाना इस उद्योग का मुख्य काम है। इधर कुछ शहरों में चमड़े के बड़े कारखाने भी कायम हो गये हैं, किंतु यह उद्योग अभी मुख्यतः कुटीर-उद्योग के रूप में ही चल रहा है। देश में जितनी खालें तैयार होती हैं, उनमें १०० में से ८८ खालें कुटीर-उद्योग द्वारा तैयार होती हैं। जूते बनाने का काम भी ज्यादातर घरेलू तौर पर ही होता है।

हमारा देश विशाल पशुधन का स्वामी है। सन् १९५१ की पशु-गणना के अनुसार गाय-भैंसों की संख्या ही बीस करोड़ के लगभग है। आठ करोड़ के करीब भेड़-बकरियां हैं। पशुओं की वार्षिक मृत्यु औसतन ११ प्रतिशत अनुमान की जाती है। इस हिसाब से एक करोड़ पैंसठ लाख गायों की और सैंतालीस लाख भैंसों की खालें मिलती हैं। भेड़-बकरियां और छोटे बछड़ों की खालें इससे अलग हैं, जिनकी तादाद अस्सी लाख के लगभग है। पशुओं की खालों को कच्चे रूप में या अधूरी कमाकर विदेशों को भी भेजा जाता है। करीब पच्चीस करोड़ रुपये के मूल्य की खालें हर साल विदेशों को भेजी जाती हैं। यदि इनको अच्छी तरह से कमाकर विदेशों को भेजा जाय तो अस्सी करोड़ रुपया कमाया जा सकता है। इस

तरह इस समय देश को पचपन करोड़ रुपये वार्षिक का घाटा हो रहा है।

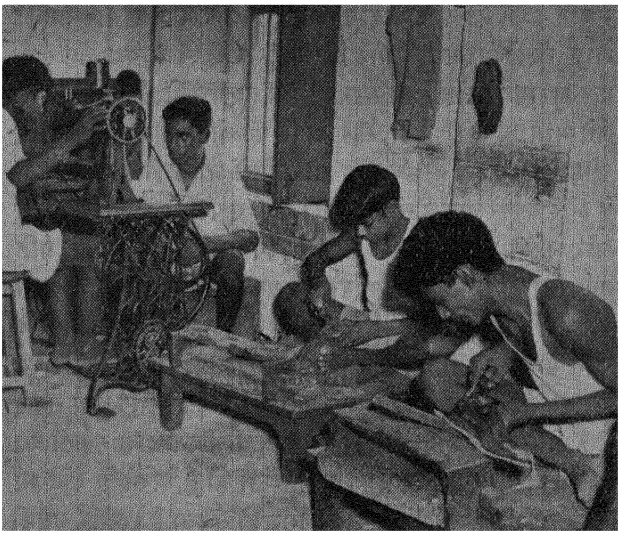

चमड़े का उद्योग

चमड़ा-उद्योग में करीब सात लाख व्यक्तियों को काम मिला हुआ है। चमड़े के बड़े कारखानों में केवल इकत्तीस हजार मजदूर काम करते हैं। गांव का चमड़ा-उद्योग करीब साढ़े छः लाख व्यक्तियों को रोजगार दे रहा है, लेकिन गांवों के चमड़ा-उद्योग में काम करनेवालों की संख्या पिछले वर्षों में बराबर घटती जा रही है। इस उद्योग में काम करनेवालों को समाज हीन दृष्टि से देखता है

और उनको तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसीलिए इस उद्योग का आवश्यक विकास नहीं हो पाया।

पशुओं की खाल उतारने और चमड़ा कमाने के तरीके में सुधार करने की बड़ी आवश्यकता है। पशु के मरने के बाद उसकी खाल जल्दी-से-जल्दी उतार ली जानी चाहिए, अन्यथा वह सड़-कर खराब हो जाती है। आजकल मरे हुए पशुओं की दूसरी चीजों जैसे मांस, चरबी, हड्डी, सींग आदि को योंही नष्ट होने के लिए छोड़ दिया जाता है। वे गीध और चीलों आदि की खुराक बनती हैं और बेकार नष्ट होती रहती हैं। मरे हुए पशुओं की हड्डी, मांस और चरबी आदि का ठीक तरह से उपयोग किया जाय, तो प्रति वर्ष सात करोड़ रुपया कमाया जा सकता है। हड्डी को पीसकर बहुत बढ़िया खाद बनाया जा सकता है। चरबी साबुन बनाने के काम में आ सकती है। हड्डियों को पकाकर जिलेटिन और सरेस बनाया जा सकता है। मांस को जमीन में गाड़कर खाद बना सकते हैं। सींगों के खिलौने, हत्थे और दूसरी चीज़ें बनाई जा सकती हैं। पशु जीते-जी तो आदमी के काम आता ही है, मरने के बाद भी वह उसके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है। अगर उसकी सब चीजों का ठीक तरह से उपयोग किया जाय, तो इस उद्योग में लगे हुए लोगों की आमदनी में खासी बढ़ोतरी हो सकती है।

खाल उतारने के काम को बहुत होशियारी से करने की जरू-रत है, वरना वह बिगड़ जाती है। इसके लिए अच्छी छुरी लेनी चाहिए और ठीक ढंग से चीरना चाहिए ताकि वह बिना तोड़-मोड़ के उधड़ जाय और उसपर निशान या धब्बे न पड़ें। पशुओं को गोदने या दागने से खालें खराब हो जाती हैं, इसलिए यह रिवाज बंद होना चाहिए। खाल को उतार लेने और उसकी

मांस चरबी अलग करने के बाद सुखाया जाता है। सुखाना इस तरह चाहिए कि उसमें सिकुड़न न पड़े। इसके लिए खाल में सिरों पर छेद करके उसे रस्सी से लकड़ी के चौखटे पर कस देते हैं। खालों पर नमक भी लगाया जाता है। नमक लगाने से खालें खराब नहीं होतीं। नमक लगाकर उनको सुखा लिया जाता है और फिर बेच दिया जाता है।

खालों को कमाकर चमड़े का रूप देने के लिए अनेक क्रियाएं करनी पड़ती हैं। सूखी हुई खालों को पानी के हौजों में डाला जाता है। उससे वे नरम पड़ जाती हैं। उसके बाद खालों को चूने के पानी के हौज में कई दिन तक डाले रखना पड़ता है। उसके बाद चूना अलग करने के लिए उनको तेजाब के पानी के हौज में डाला जाता है। खाल को रंगने के लिए उसे कुछ दिन हर्र के पानी में डाला जाता है। गांवों में चमड़ा कमाने के लिए आम तौर पर वनस्पति का उपयोग किया जाता है। उत्तर भारत में इसके लिए बबूल की और दक्षिण भारत में अवरम की छाल काम में ली जाती है। आजकल इन पेड़ों की छाल काफी मात्रा में नहीं मिलती, इसलिए वत्तल की छाल काम में ली जाने लगी है, जो अफ्रीका से मंगाई जाती है। खालों को हौजों में डालकर और थैले बनाकर दोनों ही तरह से कमाते हैं। गांवों में ज्यादातर थैलों का तरीका काम में लेते हैं। खाल को सीकर थैलीनुमा बना लेते हैं और उसमें पानी के साथ बबूल या वत्तल की छाल भर देते हैं। इस तरह उनमें से पानी टपकता रहता है। खाल पर छाल का रंग भी चढ़ जाता है। थैली से कमाया चमड़ा हल्का होता है और हौज का कमाया हुआ भारी। पहला नाप के और दूसरा वजन के हिसाब से। चमड़ा कमाने में डेढ़-दो महीने का समय लग जाता

है। साधारण तौर पर चमार और रेगर साल में इक्यानवे लाख गाय-भैंसों का चमड़ा इस तरीके से कमाते हैं, जिसका मूल्य युद्ध के पहले के हिसाब से साढ़े तीन करोड़ रुपये के लगभग होता है। बड़े कारखानों में खनिजों की मदद से चमड़ा कमाया जाता है, जिसे क्रोम पद्धति कहते हैं।

गांव के चमड़ा-उद्योग का महत्व सरकार ने स्वीकार किया है। उसके विकास के लिए दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में पांच करोड़ रुपया रखा गया है। खादी ग्रामोद्योग-आयोग इसके विकास में तरह-तरह से मदद दे रहा है। उसने कार्यकर्ताओं के ऐसे दल संगठित किये हैं, जो एक केंद्र में कुछ दिन ठहरते हैं और इस उद्योग में काम करनेवालों को खाल उतारने तथा उनको कमाने के सुधरे हुए तरीकों की शिक्षा देते हैं। उसने शिक्षा-केंद्रों की भी स्थापना की है, जिनमें इस उद्योग की शिक्षा दी जाती है। खाल और चमड़े के व्यवसाय में दलालों का बड़ा हाथ है और इस कारण असली उत्पादकों को पूरा लाभ नहीं मिलता। चमड़ा-उद्योग-श्रमिकों की सहकारी समितियां संगठित करके उनको यह उद्योग अच्छी तरह और लाभ के साथ चलाने में समर्थ बनाया जा रहा है। खादी-ग्रामोद्योग-आयोग खाल निकालने, चमड़ा कमाने और हड्डी पीसने के केंद्र स्थापित करने के लिए आर्थिक और कर्ज की सहायता देता है। ग्रामीण चर्मकारों को हौज बनाने और उनकी मरम्मत करने के लिए भी आर्थिक सहायता देता है। बिक्री-भंडारों की स्थापना में मदद देता है।

भारतीय खालों और चमड़े की विदेशों में बड़ी मांग है, विशेषकर छोटे पशुओं के हल्के चमड़े की। यह चमड़ा मद्रास राज्य में बड़ी मात्रा में तैयार होता है। देश के भीतर भी चमड़े

की चीजों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। अतः अगर इस उद्योग का ठीक-ठीक विकास हो, तो उसमें और भी अधिक लोगों को

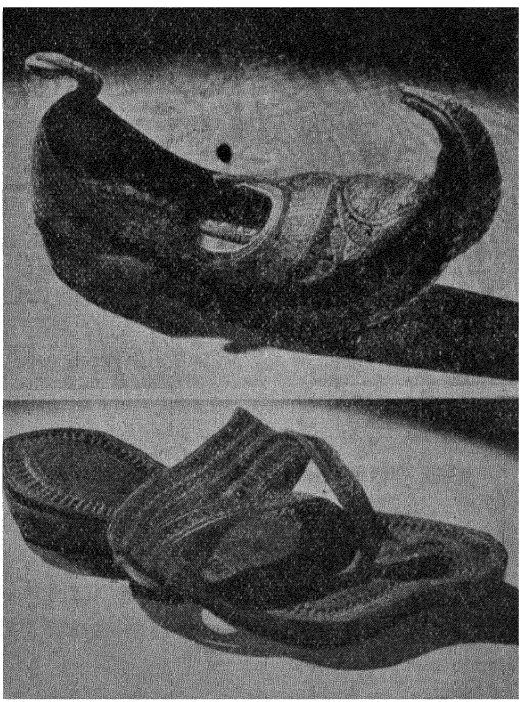

चमड़े का कलापूर्ण जूता और चप्पल

काम मिल सकता है। भारत तैयार माल, जैसे जूते, बटुए, सूटकेस, आदि विदेशों को भेज सकता है और विदेशी मुद्रा कमा सकता है।

यह उद्योग देश की दौलत को बढ़ाने और श्रमिकों की हालत सुधारने में काफी हाथ बंटा सकता है। यह बड़े कारखानों के मुकाबले अबतक जीवित रहा है और भविष्य में भी रह सकता है, सिर्फ उसमें बुद्धि और श्रम लगाने की जरूरत है।

: ११ :

हाथ-कागज-उद्योग

कागज-उद्योग हमारी सभ्यता की निशानी है। हम अपने विचारों को एक-दूसरे तक पहुंचाने के लिए कागज की ही मदद लेते हैं। कागज के द्वारा ज्ञान को फैलाया और सुरक्षित रखा जाता है। किताबें, अखबार आदि कागज पर ही छापे जाते हैं। उद्योग-धंधों को चलाने में भी कागज काम में आता है। आज हम यह सोच भी यहीं सकते कि कागज के बिना हमारा काम चल सकता है।

कागज बनाने की कला का आविष्कार आज से दो हजार वर्ष पहले चीन में हुआ। वहां से वह यूरोप के देशों में गई। हमारे देश में पहले लोग कुछ खास तरह के पेड़ों की छाल और पत्तों को लिखने के काम में लेते थे। उनको ताल-पत्र और भुर्जपत्र कहते हैं। जब मुसलमान हमारे देश में आये, तो अपने साथ कागज बनाने का उद्योग भी लाये। पुराने जमाने में कागज बहुत थोड़ी मात्रा में काम में लिया जाता था। किंतु जबसे छापाखानों का आविष्कार हुआ है, कागज की खपत बहुत बढ़ गई है और बढ़ती ही जा रही है।

कागज पहले हाथ से और मामूली औजारों की मदद से बनता था। यह तरीका हमारे देश में ही नहीं, बल्कि दूसरे देशों में भी जारी है। किंतु जब कागज की मांग बढ़ी और बड़ी मशीनों की मदद से कागज बनने लगा, तो हाथ-कागज-उद्योग को बड़ा

धक्का लगा। कागज-मिलों में बना कागज सस्ता और अच्छा होने के कारण हाथ से बना कागज उसके मुकाबले मुश्किल से ही टिक सकता था, किंतु इसमें कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो मिलों के कागज में नहीं होतीं। वह बहुत मजबूत और टिकाऊ होता है। तीन-तीनसौ वर्ष पुराना हाथ का बना कागज उसके असली रूप में मिला है। उसकी बनावट और किस्म में कुछ भी खराबी नहीं आई। हाथ-कागज हिसाब की बहियों, धर्मशास्त्रों, जन्मपत्रियों, जमीन-जायदाद के दस्तावेजों आदि के काम में आता है। पश्चिम के औद्योगिक देशों में अभी भी हाथ से कागज बनाया जाता है। वहां हाथकागज पर नोट छापे जाते हैं और दस्तावेज लिखे जाते हैं। पश्चिमी देशों में हाथकागज-उद्योग में आधुनिक तरीके अपना लिये गए हैं, इसलिए वह आज भी जीवित है। हमारे यहां इस उद्योग की हालत दिन-प्रति-दिन गिरती जा रही थी। महात्मा गांधी ने हाथकागज-उद्योग को फिर से जीवन-दान दिया और अब खादी-ग्रामोद्योग-आयोग उसका विकास और विस्तार करने की कोशिश कर रहा है।

हमारे देश में अभी कागज की खपत बहुत कम होती है। अमरीका में साल में प्रति व्यक्ति कागज की औसत खपत २८४ पौंड है, ब्रिटेन में १५० पौंड और स्वीडन में २४ पौंड है, जबकि हमारे देश का औसत सिर्फ १.९ पौंड है। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार बढ़ेगा, वैसे-वैसे कागज की मांग बढ़ेगी। हमारे देश में कागज की कुल खपत साल में एक लाख चालीस हजार टन अनुमान की जाती है। इसका ज्यादातर भाग देश की कागज-मिलों में ही तैयार होता है, किंतु हमको विदेशों से भी कागज मंगाना पड़ रहा है। देश की कागज की जरूरत को पूरा करने में हाथकागज-उद्योग

भी हाथ बंटा सकता है। हाथ-कागज बनाने के देश में अनेक केंद्र चल रहे हैं। किंतु उनका उत्पादन अधिक नहीं है। हाथ-कागज-उद्योग का वार्षिक उत्पादन ४०० टन के आसपास होगा और उसमें कोई दो हजार व्यक्तियों को रोजगार मिल रहा होगा। इस उद्योग का विकास हो, तो और आदमियों को रोजगार मिल सकता है।

कागज बनाने के लिए मुख्यतः रेशेवाली वनस्पति काम में ली जाती है। कागज-मिलों में बांस और सवई घास का खासतौर पर उपयोग होता है। किंतु गांवों के आस-पास और जंगलों में ऐसी बीसियों तरह की वनस्पति होती है, जो थोड़ी मात्रा में मिलती है। उसका इकट्ठा होना और मिलों तक पहुंचना मुश्किल होता है। लेकिन हाथकागज-उद्योग में उसका स्थानीय रूप में उपयोग हो सकता है। वनस्पति के अलावा, कपड़ों की कतरन, पुराने चिथड़े, रस्सियां बोरियां, टूटी टोकरियां, चटाइयां और रद्दी कागज भी कागज बनाने के काम में आ सकते हैं। कागज बनाने के लिए कच्चे माल को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लिया जाता है। उसे पानी में डालकर अथवा उबालकर अच्छी तरह गलाया जाता है। तब उसकी लुगदी तैयार हो जाती है। उसे साफ पानी में धोया जाता है। लुगदी को सफेद बनाने के लिए ब्लीचिंग पाउडर का इस्तेमाल करते हैं। फिर लुगदी को कुटाई की जाती है। इसके लिए एक ढेंकी काम में ली जाती है। लुगदी की कुटाई के लिए एक मशीन भी बनी है, जिसे बीटर मशीन कहते हैं। वह लुगदी की कुटाई अच्छी तरह से कर देती है। लुगदी को पानी के हौज में घुलाया जाता है। कागज उठाने के सांचे से लुगदी-मिश्रित पानी उठाया जाता है, तो कागज बन जाता है। लकड़ी का एक चौखटा

होता है, जिसके बीच में जाली लगी होती है। इसीको कागज उठाने का सांचा कहते हैं। उससे कागज की परतें तैयार होती

हाथ-कागज का उद्योग

जाती हैं। उनको सुखाया जाता है। उसके बाद कागज को चिकना बनाने के लिए उसपर कलफ लगाया जाता है। यह काम मांड, सरेस, बैरोजा या केसीन की मदद से किया जाता है। फिर कागज की घुटाई की जाती है। इसके लिए बड़ी कौड़ियां, शंख, चिकने कांच या पत्थर के टुकड़े काम में लिये जाते हैं। कागज की घुटाई करने और उसकी पालिश करने के लिए एक छोटी मशीन भी

काम में ली जाती है। इसके अलावा कागज को काटने और दबाने की मशीनें भी बनी हैं।

हाथकागज-उद्योग को चलाने के लिए बड़ी पूंजी की जरूरत नहीं होती। वह कुटीर-उद्योग के रूप में चल सकता है और घर के सब लोग उसमें हाथ बंटा सकते हैं। इसके लिए कच्चा माल आसानी से मिल सकता है। एक कुटीर केंद्र दो हजार की पूंजी से चल सकता है। हाथकागज बनाने के बड़े, मध्यम आकार के और छोटे सभी प्रकार के केंद्र चलाये जा सकते हैं और यह उद्योग दस्तकारी के रूप में स्कूलों और जेलों में भी जारी किया जा सकता है। इस उद्योग के केंद्र के लिए अगर मकान पक्का हो और बिजली और पानी काफी मात्रा में मिल सके, तो काफी सहूलियत हो सकती है। खादी-ग्रामोद्योग-आयोग हाथकागज बनाने के केंद्रों को मकान बनाने और सुधरे औजार प्राप्त करने के लिए कर्ज और सहायता दोनों देता है। इस उद्योग का शिक्षण लेनेवालों को वह छात्रवृत्तियां भी देता है। तैयार माल की बिक्री में घाटा हो, तो उसकी सहायता देकर पूर्ति करता है और माल की बिक्री में मदद देता है। शिक्षित व्यक्ति भी इस उद्योग को सीखकर अच्छा रोजगार पा सकते हैं और देश की एक बड़ी जरूरत को पूरा करने में सहायक हो सकते हैं।

: १२ :

कुम्हारी-उद्योग

कुम्हारी-उद्योग गांवों का बहुत पुराना कुटीर-उद्योग है। वह गांवों और शहरों की मिट्टी के बर्तनों की जरूरत पूरी करता है। ग्रामीण कुम्हार जो बर्तन आदि बनाता है, वे गांवों में आस-पास बिक जाते हैं। गांवों में खाना पकाने, परोसने, सामान रखने और पानी भरने के बर्तन आम तौर पर मिट्टी के होते हैं। सन १९५१ की जनगणना में कुम्हारी का काम करनेवालों की संख्या ३,६०,००० दी गई है। इसके अलावा एक लाख पच्चीस हजार व्यक्ति ईंटें, टाइल, कवेलू, पाइप आदि इमारती चीजें बनाने का काम करते हैं। कुम्हारों में से कुछ मिट्टी के खिलौने, फलों और सब्जियों की आकृतियां और मूर्तियां आदि बनाते हैं। लखनऊ का कुम्हारी शिल्प इसके लिए प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हमारी इस सृष्टि की रचना ब्रह्माजी ने की है। उनको प्रजापति भी कहा जाता है। कुम्हार भी मिट्टी की नाना प्रकार की आकृतियां बनाता है, इसलिए उसे भी लोगों ने प्रजापति का नाम दे दिया है।

कुम्हार को साल में पूरे समय काम नहीं मिल पाता। वर्षा का मौसम तो उसके काम के लिए बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं। वह साल में छः महीने ही काम कर पाता है। कुम्हार-परिवार की औसत मासिक आमदनी ४० रुपये के आसपास होती है और वह भी साल में छः ही महीने। अतः उसे बहुत ही गरीबी का जीवन

बिताना पड़ता है। पहले के जमाने में किसान फसल पकने पर उसे अनाज दे देते थे, और वह उनको उनकी जरूरत के बर्तन दे देता

काम में संलग्न कुम्हार

था। इस तरह दोनों का काम निकल जाता था। शहरों में कुम्हार के बर्तन बहुत सस्ते बिकते हैं। उसे इन बर्तनों को बनाने में मेहनत भी काफी करनी पड़ती है। अगर वह अच्छी किस्म के कलापूर्ण बर्तन बनाये, तो वे मंहगे पड़ेंगे और उनकी अधिक बिक्री नहीं होगी। इसलिए भी कुम्हार अपनी कला का विकास नहीं कर पाता। फिर जबसे धातु और कारखानों में बने पालिश और बिना पालिश के चीनी के बर्तन बाजार में आये हैं, कुम्हारी-उद्योग को और भी धक्का लगा है। अब प्लास्टिक के बर्तन चल पड़े हैं। यदि कुम्हार के धंधे को जीवित रखना है, तो उसके औजारों में और काम के तरीके में सुधार करना होगा। उसे संगठित करना

होगा। और उसके माल की बिक्री का प्रबंध करना होगा।

कुम्हार को अपने काम के लिए सबसे पहले ठीक प्रकार की मिट्टी प्राप्त करनी होती है। कुम्हार का मुख्य औजार उसका चाक होता है। उसका परंपरागत चाक बहुत साधारण और भारी होता है। पूना की प्रयोगशाला ने एक सुधरा हुआ चाक निकाला है, जिसकी कीमत १५०-३०० रुपये के बीच में है। यह रस्सी की मदद से घुमाया जाता है और चाक के कीले को मिट्टी के बर्तन समेत घूमती हुई हालत में बाहर निकाला जा सकता है।

मिट्टी से निर्मित्त सुंदर वस्तुएं

किंतु कुम्हार सुधरा हुआ औजार काम में लेने के लिए आसानी से तैयार नहीं होता। उसे अपना पुराना औजार ही प्यारा लगता है। फिर उसकी गरीबी भी उसे नया औजार नहीं खरीदने देती। चाक के अलावा पाइप, टाइल वगैरा बनाने के सुधरे हुए लकड़ी के

सांचे भी तैयार किये हैं। चाक पर कुम्हार पहले बर्तनों को आकार देता है। फिर उन्हें अपने कुशल हाथों की मदद से अंतिम रूप देता है। उनको सुखाता है और बाद में भट्टी के आवे में रख-कर पकाता है। कुम्हारों का यह भी स्वभाव है कि वे अपनी कला दूसरों को नहीं सिखाते और इस तरह बहुत-सी पुरानी कला का लोप हो गया है। अगर बर्तनों को अंतिम फिनिश देनेवाली चीजों और रंग-रोगन का सामान उन्हें एक जगह से मिले और वे उसका उपयोग सीख लें, तो वे अपने उत्पादन में काफी सुधार कर सकते हैं।

खादी और ग्रामोद्योग-आयोग ने कुम्हारी-उद्योग को भी अपने संरक्षण में ले लिया है। उसने एक केंद्रीय और कुछ क्षेत्रीय प्रशिक्षण-केंद्र खोले हैं। कई कुम्हार मिलकर अगर एक केंद्र चलायें, तो वह उन्हें स्थान सुलभ करता है। ऐसे केंद्र को कर्ज और औजार देता है। जिस जगह कुम्हार अधिक संख्या में रहते हों, वहां सुधरे हुए तरीकों का प्रदर्शन भी कराता है। कुम्हारों की सहकारी समितियों को और कुम्हारी काम करनेवाली संस्थाओं को कर्ज देता है। बिक्री-केंद्रों को उनकी बिक्री के अनुपात से आर्थिक सहायता देता है। इन सब उपायों से वह इस पुराने ग्राम-उद्योग को जीवित रखने और पोषण देने का प्रयत्न कर रहा है। गांवों के जीवन में उसका अभी भी अपना स्थान है और जबतक मिट्टी के बर्तनों की मांग रहेगी, वह मर नहीं सकता।

: १३ :

दियासलाई-उद्योग

दियासलाई हमारे रोज के काम में आनेवाली चीज है। दियासलाई पहले विदेशों से आती थी, किंतु सरकार ने विदेशी दियासलाइओं पर टैक्स लगाकर उनका आना रोक दिया। उसके बाद स्वीडनवालों ने देश के भीतर ही दियासलाई बनाने के कारखाने खोले। इस समय देश में दियासलाई के अनेक कारखाने चल रहे हैं, जिनको उनकी उत्पादन मात्रा के हिसाब से तीन श्रेणियों में बांटा गया है। उनसे सरकार अलग-अलग उत्पादन-कर लेती है। बड़े कारखानों की संख्या केवल ७ है, किंतु वे देश की दियासलाई की जरूरत का ७० प्रतिशत पूरा करते हैं। दूसरे मध्यम आकार के कारखाने हैं, जिनमें कुछ काम मशीनों से और कुछ हाथ से होता है। उनकी संख्या ८८ है। तीसरी किस्म के कारखाने वे हैं, जिनमें मशीनों का प्रयोग नहीं होता। बड़े कारखानों के मुकाबले के कारण शेष दो किस्म के कारखानों की संख्या पिछले वर्षों में कम हुई है, हालांकि उनका उत्पादन बढ़ा है। उनको जितना माल तैयार करने का लाइसेंस मिला है, उसके हिसाब से तो वे २०-२२ प्रतिशत माल ही तैयार कर रहे हैं। तीसरी श्रेणी के कारखानों की हालत तो दूसरी श्रेणी के कारखानों से भी बुरी है।

खादी-ग्रामोद्योग-आयोग इन तीनों श्रेणियों के कारखानों की गिनती कुटीर-उद्योग में नहीं करता। तीसरी श्रेणी के कारखाने

को भी अपनी उपज को खपाने के लिए अपने आस-पास के क्षेत्र से दूर बाजार खोजना पड़ता है। इसलिए वह चाहता है कि देश में दियासलाई बनाने के ऐसे केन्द्र कायम किये जायं, जिनकी उत्पादन-क्षमता २५ ग्रास प्रतिदिन तक सीमित हो। ये केंद्र अपने आस-पास की जरूरत को पूरा करेंगे और उनका स्वरूप पूरी तरह कुटीर-उद्योग का होगा। दियासलाई बनाने के ऐसे केंद्र में पांच आदमी पूरे समय के लिए काम कर सकते हैं और ५४ आदमियों को तीलियां बनाने, बक्स बनाने और उनको भरने का

दियासलाई की तीलियां तैयार की जा रही हैं।

थोड़े समय का काम मिल सकता है। दियासलाई चाहे बड़े कारखानों में तैयार हो, चाहे हाथ से बनाई जाय, दोनों की किस्म में कोई अंतर नहीं पड़ता। मशीनों से बननेवाली दियासलाई पर उल्टे खर्च अधिक बैठता है। इस समय हाथ से बनी दियासलाई बाजार में मशीन से बनी दियासलाई के साथ-साथ एक ही कीमत पर बिक रही है और उनमें कोई फरक नहीं किया जा सकता।

इस तरह दियासलाई के उद्योग को कुटीर-उद्योग के रूप में बदला जा सकता है और बड़ी तादाद में लोगों को उनके घरों में सहायक रोजगार दिया जा सकता है। बड़े कारखानों में दियासलाई के लिए सेमल की नरम लकड़ी काम में ली जाती है। इसके कारण जंगल उजड़ रहे हैं। दियासलाई के कुटीर-उद्योग में सेमल की लकड़ी के बजाय बांस काम में लिया जा सकेगा। बक्सों के लिए घास से बने कागज के पुट्ठे का उपयोग हो सकेगा।

खादी-ग्रामोद्योग-आयोग दियासलाई का कुटीर-केंद्र कायम करने के लिए सहायता और कर्ज दोनों ही देगा। वह दियासलाई उद्योग के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करेगा। यह प्रशिक्षण केंद्रीय स्थान में दिया जायगा और उसके लिए छात्रवृत्तियां भी दी जायंगी। घूमनेवाले शिक्षक भी इस काम की विभिन्न केंद्रों में शिक्षा देंगे। बिक्री-केंद्र कायम करने के लिए भी सहायता दी जायगी। सरकार बड़े कारखानों पर यह रोक लगा सकती है कि वे अपनी उत्पादन-क्षमता न बढ़ायें। दियासलाई के कुटीर-केंद्रों के उत्पादन को उत्पादन-कर से मुक्त रखना होगा। इस तरह दियासलाई का यह कुटीर-उद्योग बेकारी की समस्या को हल करने में सहायक हो सकेगा।

... ...

इसके अलावा खादी-ग्रामोद्योग-आयोग ने रेशा-उद्योग के विकास का काम भी अपने हाथ में लिया है। हमारे देश में ऐसा कई तरह का कच्चा माल मिलता है, जिसमें से रेशे मिलते हैं। इन रेशों को कातकर या बंटकर तरह-तरह की रस्सियां, दरवाजों के पर्दे, चटाइयां, कपास और गुड़ के थैले आदि बनाये जा सकते हैं। आयोग इन कामों का प्रशिक्षण कुछ नौजवानों को देगा। वे बाद

में गांव-गांव जाकर ग्रामीणों को यह धंधा सिखायेंगे ।

देश में इन मुख्य ग्राम और कुटीर-उद्योगों के अलावा तरह-तरह की दस्तकारियां, जैसे हाथीदांत की चीजें, बर्तनों की नक्काशी, जरी का काम, सींग और हड्डियों की चीजें, कागज के खिलौने, संगमरमर का काम, चांदी-सोने के जेवर आदि चल रही हैं । इन कला-कौशल की चीजों की न केवल देश में बल्कि दूसरे देशों में भी मांग है और भारतीय कारीगरों की निपुणता की सराहना की जाती है । उनके विकास के लिए दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में नौ करोड़ रुपया रखा गया है ।

: १४ :

उपसंहार

खादी, हाथकरघा और दूसरे मुख्य ग्राम-उद्योगों का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे पाठक यह भली-भांति समझ सकेंगे कि उनमें लोगों को लाभदायक रोजगार देने की कितनी बड़ी ताकत छिपी हुई है। अपनी मौजूदा हालत में भी वे लाखों आदमियों को रोजगार दे रहे हैं और उनके तथा उनके परिवार के लोगों के मुंह में रोटी का निवाला पहुंचा रहे हैं। बेकारी और गरीबी को खत्म करना आज देश की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या को ग्रामोद्योग बड़ी अच्छी तरह हल कर सकते हैं। इसीलिए सरकार ने पहली पंचवर्षीय आयोजना में उनके विकास पर तीस करोड़ रुपया खर्च किया और दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में उनके लिए दोसौ करोड़ रुपये की विशाल राशि रखी है। खादी-ग्रामोद्योग-आयोग की स्थापना करके यह काम उसके सिपुर्द किया है।

सबसे महत्वपूर्ण प्रगति खादी के काम में हुई है। सन् १९५३ के पहले खादी का उत्पादन एक करोड़ गज से कम होता था, किंतु अब वह चार करोड़ गज से ऊपर पहुंच गया है। पहले इस उद्योग में काम करनेवाले कतवारों, बुनकरों और अन्य कारीगरों की संख्या तीन लाख साठ हजार थी, जो अब बढ़कर ग्यारह लाख एक्यावन हजार हो गई है। दूसरे शब्दों में, पांच वर्षों में आठ लाख व्यक्तियों को और रोगजार मिला है। इसमें उन लोगों की तादाद शामिल नहीं है, जो अपने कपड़े की जरूरत पूरी करने के लिए

खुद कातते हैं। उनकी संख्या पांच लाख के लगभग होगी। अंबर चरखे के आविष्कार ने तो खादी के काम में क्रांति ही ला

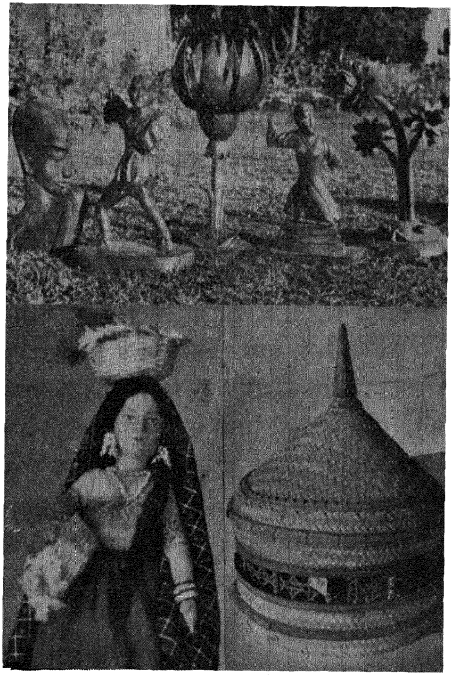

दस्तकारी के आकर्षक नमूने

दी है। उसपर साधारण चरखे के मुकाबले अधिक और अच्छा सूत कतता है और कतवार को ज्यादा मजदूरी मिल सकती है।

केवल दो वर्षों में अंबर चरखे के कारण एक लाख सड़सठ हजार आदमियों को रोजगार मिला और उनको करीब पौने दो करोड़ रुपये मजदूरी के रूप मे बांटा गया।

खादी के अलावा अन्य ग्रामोद्योगों में, जिनका ऊपर जिक्र किया गया है, करीब छः लाख लोगों को और रोजगार मिला है। उनमें दो लाख सैंतीस हजार को पूरे समय का और तीन लाख सत्तावन हजार को कुछ समय का रोजगार मिला। खादी के अलावा ग्रामोद्योग का उत्पादन सन् ५७-५८ में करीब पंद्रह करोड़ रुपये मूल्य का हुआ।

ग्रामोद्योग और कुटीर-उद्योग विकेंद्रित उद्योग हैं। उनको थोड़ी पूंजी से और सीधे-सादे औजारों की मदद से चलाया जा सकता है। वे लाखों-करोड़ों आदमियों को रोजगार दे सकते हैं। ग्रामोद्योगों के औजारों में सुधार किया गया है और किया जा रहा है, किंतु उनका कुटीर-उद्योग का रूप कायम रहना चाहिए। भारत की ज्यादातर आबादी गांवों में रहती है। खेती के अलावा ग्रामोद्योगों की मदद से उसको खुशहाल बनाया जा सकता है। जिनकी कुछ भी आमदनी नहीं है या थोड़ी आमदनी है, उनकी आमदनी बढ़ा सकते हैं। ग्रामोद्योगों की चीजों को काम में लेकर हम गांव के लोगों में नया जीवन पैदा कर सकते हैं, उनको आत्म-निर्भर बना सकते हैं।

●

'मंडल' का ग्रामोपयोगी प्रकाशन

ग्राम-सेवा (गांधीजी) ०·३७
ग्राम-सेवा के संबंध में दिशा-दर्शक विचार

गांव-सुखी, हम सुखी (विनोबा) ०·३७
गांव में सुखी रहने के उपाय

गांव के उद्योग-धंधे (शोभालाल गुप्त) ०·३०
ग्रामोद्योगों की प्रगति बतानेवाली पुस्तक

ग्राम-सुधार (ओमप्रकाश त्रिखा) १·२५
ग्रामोत्थान के विविध उपायों का विवरण प्रस्तुत करनेवाली ग्रामोपयोगी पुस्तकें

हमारे गांव की कहानी (रामदास गौड़) १·५०
इस पुस्तक में भारतीय गांवों का प्रारंभ से लेकर वर्तमान काल तक के इतिहास का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि ब्रिटिश शासन ने किस प्रकार ग्राम-जीवन को तहस-नहस कर दिया।

खादी द्वारा ग्राम-विकास (प्रभुदास गांधी) ०·७५
एक स्वावलंबी गांव का चित्र। रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के लिए उपयोगी।

खेती के साधन (डा. नारायण दुलीचंद व्यास) १·२५
खेती के विविध साधनों का ज्ञान तथा उनका उपयोग बतानेवाली पुस्तक।

खाद और उसके उपयोग (शंकरराव जोशी) ३·००
विभिन्न खादों तथा भिन्न-भिन्न फसलों में उन खादों के उपयोग का विस्तृत ज्ञान करानेवाली पुस्तक।

चारादाना (परमेश्वरीप्रसाद गुप्त) ०·२५

चारादाना और उसके खिलाने की रीति

पशुओं का इलाज (परमेश्वरीप्रसाद गुप्त) ०·७५

पशुओं में फैलनेवाले संक्रामक रोग और छोटी-छोटी बीमारियों की चिकित्सा-विधि।

इनके अलावा 'मंडल' की अन्न, दलहन, तिलहन, साग-भाजी, फल, कपास, तम्बाकू, सन आदि की खेती की जानकारी देनेवाली ग्रामोपयोगी पुस्तकों के लिए लिखिये।

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली